अध्याय एक

दलित स्त्री चेतना एक अध्ययन

भारतीय चिंतन परंपरा में नारी के संबंध में चिंतन की परंपरा बहुत पुरानी है। वेद, उपनिषद और पौराणिक तथा धार्मिक ग्रंथों में समय-समय पर महिलाओं के बारे में विचार व्यक्त किए गए हैं। हमारे यहां महिलाओं के बारे में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' से लेकर 'नारी माया है, नरक की खान है' तक के विविध विचार मिलते हैं। महिलाएं समाज की पहली कड़ी हैं। हिंदी दलित कहानियों में महिलाओं को कई रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। सदियों से, स्त्रियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों के माध्यम से शोषण किया जाता रहा है। स्त्रियों पर होने वाले इस घरेलू अत्याचार और उत्पीड़न के प्रति जागरूकता नारीचेतना को जन्म दिया है। स्त्रियों को अपने अस्तित्व के बोध से ही जागरूक होने की प्रेरणा मिली है। उनके समर्पण और उन्हें पितृसत्तात्मक व्यवस्था से बाहर निकालने का पूरा श्रेय नारी चेतना को जाता है।

किसी भी व्यक्ति के जीवन की सफलता के लिए आत्मनिर्भर होना बहुत जरूरी है। एक कमजोर महिला का शोषण करना आसान है लेकिन एक मजबूत महिला आज अपनी स्थिति में बदलाव ला रही है। आज दलित स्त्री विमर्श अन्य विमर्शों की तरह हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे सवर्ण साहित्य के स्त्री विमर्श और दलित पुरुषों के दलित विमर्श द्वारा नजरअंदाज किया जा रहा था। यही कारण है कि दलितों में दलित यानी महिलाएं भी समाज और साहित्य में अपना स्थान बनाने के लिए आंदोलन कर रही हैं। दलित महिलाएँ अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने मुद्दों को साहित्य के केंद्र में लेकर आ रही है। प्रस्तुत अध्याय में दलित साहित्य, स्त्री चेतना और दलित कहानियों का विभिन्न परिदृश्यों का अवलोकन किया है।

1.1 चेतना शब्द का अर्थ

चेतना एक ऐसी घटना है जिस पर मस्तिष्क विज्ञान सहित कई क्षेत्रों में बहस हुई है। दर्शन, जीव विज्ञान और मनोविज्ञान की जड़ों ने चेतना के संभावित भौतिक आधारों की खोज में मस्तिष्क अनुसंधान को प्रभावित किया। सदी के अंत में, वैज्ञानिकों ने अक्सर चेतना और उचित मस्तिष्क कार्यों के बीच संबंधों पर ध्यान दिया। फिर भी 'आत्मा' प्रमुख विषय था और अधिकांश वैज्ञानिकों के लिए चेतना केवल एक उप-उत्पाद थी। यदि चेतना पर बहस हुई, तो यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि न्यूरोलॉजिकल दृष्टिकोण से अधिक बार की गई, क्योंकि उस समय मनोचिकित्सा न्यूरोलॉजी की तुलना में अधिक सुरक्षित आधार पर थी। 20 साल पहले की 'संज्ञानात्मक क्रांति' ने व्यवहारवाद के दौरान निष्कासित मनोवैज्ञानिक शब्दावली का एक बड़ा हिस्सा वापस ला दिया, हालाँकि ये शब्द प्रकृति में वैज्ञानिक नहीं हैं।

चेतना शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। मनोविज्ञान में इसे चेतन, अवचेतन और अचेतन में विभाजित किया जाता है तथा साहित्य में इसका अर्थ किसी वस्तु की समझ, उसकी जानकारी, जागरूकता, सतर्कता, अनुभूति आदि होता है। हालाँकि आधुनिक अर्थों में 'चेतना' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी शब्द 'कॉन्शसनेस' के हिंदी संस्करण के रूप में किया जाता है। जिसके अर्थ है - जागृत, स्मृति, बुद्धि, जागरूकता में आना आदि। चेतना एक जागरण बोध है। "चेतना मानव के अंतरंग की शक्ति है, जो एक अमूर्त शब्द है"।[1]

चेतना युगानुरूप परिवर्तित होती रहती है। यह एक प्रकार की अनुभूति है जो निरंतर परिवर्तनशील है। मनुष्य की चेतना का विकास क्रमानुगत हुआ है। विज्ञान के अनुसार, मस्तिष्क में पहूँचनेवाली अभिगामी आवेगों से उत्पन्न अनुभूति है चेतना। निर्जीव वस्तु में चेतना नहीं प्राप्त होती है। चेतना प्राणी में रहनेवाली तत्व है। "वह चेतना से अभिप्राय है

मन की वह वृत्ति या शक्ति जिससे जीव या प्राणी को आतंरिक अनुभूतियों, भाषा विचारों आदि तथा बाह्य घटनाओं तत्वों या बातों का अनुभव या भान होता है"।[2]

डॉ. हरदेव बाहरी ने 'कोनशेसनेस' के बारे में कहा गया है- "प्रतिबोध, चैतन्य, चेतना, संज्ञा, जागृति, ज्ञान, बोध व्यक्ति की भावनाओं और विचारों की समष्टि, पूर्णता"।[3]

अंग्रेज़ी में 'Consciousness' और 'Awareness' शब्द चेतना के पर्यायवाची माने जाते है। 'Consciousness' शब्द की व्युत्पत्ति कोन्शसियस (Consious) और कोन्सिरे (Conscire) शब्दों से बना है। इसका अर्थ है - जानना (To know), 'Consciousness' का अर्थ है - "जागृत, स्मृति, बुद्धी, होश से आना"।[4]

'हिंदी विश्वकोश' में, "चेतना जीवधारियों रहने वाला वह तत्त्व है, जो उन्हें निर्जीव पदार्थों से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्य की जीवन क्रियाओं को चलाने वाला तत्त्व कह सकते हैं। चेतना स्वयं को और अपने आसपास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है" ।[5]

डॉ. देवराज पथिक के वक्तव्य के अनुसार, "चेतना निष्प्राण, मृतप्राय और शून्य में जिजीविषा की विद्युत् तरंगों का संचार करके मानव-जाति के लिए सुख और आहलाद का कारण बनती है। सच्ची चेतना सत्-चित- आनन्द के कारण बनती है। चेतना अपने समग्र रूप में सत्यं शिवं, सुन्दरं की विपुल और कल्याणकारी मानसिकता की खोज में आतुर भाव से आकंठ निमग्न रहती है। मन और आत्मा की गुत्थियों और गाठों को सुलझाने और खोलने का कार्य चेतना करती है। जीवन के प्रति आस्था उन्नत्ति के लिए आकांक्षा, गंतव्य के निर्धारण की क्षमता, संकल्प की सम्पूर्ति के लिए संघर्षशील दृष्टिकोण का निर्माण केवल चेतना शक्ति के द्वारा संभव है"।[6]

दर्शनशास्त्र के संबंध में- "जीवन का मूल लक्षण ही चेतना है, चैतन्यलक्षणों जीवः"।[7] चेतना विचारों, भावनाओं और संकल्पों की स्थिति या गुंज़ाइश है। दर्शनशास्त्र में चेतना को स्वप्रकाशित करने वाला कारक माना गया है। इसी कारण से चेतना को स्वयं प्रकाशित तत्व

माना जाता है। साहित्य में चेतना को साहित्य की विषय-वस्तु में छिपा मानव जीवन का अंग माना जाता है। इसका किसी सामाजिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक विषय से संबंध नहीं होता, इसे चेतना कहते हैं।

1.1.1 चेतना शब्द की परिभाषा

डॉ. नगेंद्र सिंह जी ने साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना नामक पुस्तक में लिखा है - "मनुष्य वस्तुओं को अपनी समझदारी और अपने ज्ञान के आधार पर ही परखता है, अतः संसार के प्रति उसके दृष्टिकोण को ही चेतना की संज्ञा दी जाती है"।[8]

- इनसायक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका में- " Knowing things together is conscious."।[9] अर्थात् वस्तुओं को समग्रता से परखना ही चेतना है।

- डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी में चेतना संबंधी विस्तृत दृष्टिकोण का उल्लेख इस प्रकार किया गया है- "चेतना वस्तुनिष्ठ यथार्थ पर चिंतन का सर्वोच्च स्वरूप है, जो केवल मनुष्य में पायी जाती है। चेतना उन सभी मानसिक क्रियाओं का योग है जो सक्रीयरूप से सहायक होती है। चेतना का जन्म मनुष्य की सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में होती है और यह भाषा से जुडी होती है। मनुष्य एक ऐसे संसार में जन्म लेता है जहाँ उसके पूर्वजों द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण किया गया है। मनुष्य इन वस्तुओं का एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है। इसके प्रयोग के लिए मनुष्य अपनी समझ को विकसित करता है। इसी के साथ मनुष्य में चेतना का भी विकास होता है"।[10]

- पाश्चात्य आलोचक रीड के विचार में, "चेतना दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त शब्द है जो व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और सामान्यतः मन की समस्त वर्तमान क्रियाओं से सम्बद्ध तत्कालीन ज्ञान का सूचक है"।[11]

❖ प्रसिद्ध विद्वान लेड के मतानुसार, "हम जागृति की स्थिति में जो कुछ कहें गहरी और स्वप्नहीन निद्रा के प्रतिकूल, वही चेतना की स्थिति है"।[12]

चेतना मूलतः एक आत्मकेन्द्रित वस्तु है, जिसके मूल में जागृति का स्वर निहित है। चेतना के अस्तित्व से ही समाज उन्नति कर सकता है। उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि चेतना के प्रस्फुटन से ही समाज में नवीन विचार एवं धारणाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

1.1.2 चेतना का स्वरूप

'चेतना' का स्वरूप विशाल है। यह मन और मस्तिष्क की प्रबल भावनाओं द्वारा निर्मित है। 'चेतना' के बिना मनुष्य की कल्पना करना असंभव है। मनुष्य में जन्मजात चेतना होती है। परंतु सुप्त अवस्था में भी यह चेतना विकास की ओर अग्रसर है। समय के साथ यह चेतना निरंतर विकसित होती रहती है, जैसे-जैसे यह नए अनुभवों के संपर्क में आती है, इसका विस्तार व्यापक होता जाता है। यह वैयक्तिक न होकर सामूहिक हो जाता है। इसलिए यही चेतना समाज को मार्गदर्शन देती है। इसीलिए चेतना समाज के विभिन्न पहलुओं के साथ अंतःक्रिया करती है और विभिन्न रूप धारण करके अपना कार्य करती है। 'चेतना' का मूल कर्तव्य है 'जागृति'। यह मनुष्य को हर परिस्थिति में जागृत रखने की क्षमता रखती है। चेतना को मन का मुख्य गुण माना जाता है, अर्थात वस्तुओं, विषयों, व्यवहार का ज्ञान। चेतना का विकास सामाजिक वातावरण और संस्कारों से होता है। मन की चेतना का विकास आत्म-साक्षात्कार तक माना जाता है। आत्म-साक्षात्कार मनुष्य को अपने सभी भाइयों से ऊपर उठना सिखाता है। इसीलिए आत्मा और चेतना के बीच का अंतर्संबंध एक-दूसरे का अनुपुरण है। हम इसे चेतना का आध्यात्मिक विकास भी कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, चेतना जीवित प्राणियों और संसार में सदैव विद्यमान रहती है। इस सन्दर्भ में कार्ल मार्क्स के विचार प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं- "चेतना आरंभ से ही एक सामाजिक उपज है और वह तब तक ऐसी बनी रहती है, जब तक मनुष्यों का

अस्तित्व बना रहता है। निस्संदेह, चेतना प्रथमतः तत्कालीन इन्द्रीय ग्राहय परिवेश से सरोकार रखने वाली चेतना मात्र है और अन्य व्यक्तियों तथा आत्म चेतना विकसित करनेवाले व्यक्तियों के बहिर्गत वस्तुओं के साथ सीमित संबंध की चेतना है। साथ ही यह प्रकृति की चेतना है जो आरंभ में मनुष्यों के सामने ही सर्वथा विजातीय, सर्वशक्तिशाली अविजेय शक्ति के रूप में प्रकट होती है" ।[13]

व्यक्ति के अनुभव और अभिव्यक्ति में चेतना का प्रभाव दिखाई देता है। चेतना की अखंड एकता हमारी व्यक्तिगत पहचान के अनुभव से उत्पन्न एक कलात्मकता है जो व्यक्ति के मन में उसके विभिन्न अनुभवों के कारण हमेशा बनी रहती है। यदि चेतना अखंड रूप में मनुष्य में मौजूद न होती तो वह सही और ग़लत के बीच का भिन्नता नहीं समझ पाता और न ही उसमें अन्याय का विरोध करने की क्षमता होती। अधर्म का विरोध और अच्छाई का समर्थन जैसी सभी सामाजिक गतिविधियाँ चेतना से ही संभव हैं। इसीलिए यदि चेतना मनुष्य के केंद्र में है तो उसकी सभी गतिविधियां परिधि के अंतर्गत आ जाती हैं और यह परिधि अत्यंत व्यापक है। इसीलिए कहा गया है - 'उसकी इच्छा के बिना एक पहिया भी नहीं हिल सकता, अर्थात चेतना सर्वव्यापी है'।

संवेदनशीलता, आत्मा, मन, भावना, विवेक, भावना, विचार आदि विभिन्न मानसिक गतिविधियों का मूल रूप है, जैसे स्त्री चेतना स्त्री मन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं का संकलित रूप है। विभिन्न परिस्थितियों की तरह चेतना का स्वरूप भी भिन्न हो जाता है। चेतना का स्वरूप बदलते जैसे नारी की अनुभूतियाँ भी विभिन्न परिस्थितियाँ में बदलती रहती है। स्त्री चेतना का अर्थ स्त्री में निहित जागरूक शक्ति है। स्त्री अपने अधिकारों को पहचानकर उसके प्रति जागृतकर अपने कर्तव्यों के प्रति समझदार नहीं होगी तो तब तक ये संसार को संतुलित बनाये रखने के लिए स्त्री एक अवश्य घटक है। स्त्री के बिना ये दुनिया अधूरी है। स्त्री चेतना के रूपों में स्त्री की सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, आर्थिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना, राजनीतिक चेतना, वैवाहिक चेतना आदि प्रमुख है।

1.2 दलित स्त्री की अवधारणा

आज दलित समाज में सबसे ज्यादा अत्याचार और पीड़ा दलितों को झेलनी पड़ रही है। दलित महिलाओं पर अत्याचार, बलात्कार, तिरस्कार और उत्पीड़न की हजारों घटनाओं के पीछे उनका दलित होना ही एक बड़ा कारण है क्योंकि उनके प्रति उच्च जाति समाज की धारणा और व्यवहार आज भी ब्राह्मणवादी परंपरा से प्रभावित है। इसलिए दलित स्त्रियाँ सबसे ज्यादा प्रतिरोध और विरोध भी करती दिखाई देती है। दलित महिलाओं को कई चुनौतियों का प्रतिक्रिया करना पड़ता है। एक दलित महिला के जीवन में शिक्षित होने का संघर्ष, जातिगत पहचान के कारण प्रगति के हर कदम पर कठिनाइयों का सामना करना, आर्थिक मजबूती के लिए कठिन प्रयास, महिला होने के कारण घर और बाहर भूख, उपेक्षा, अपमान और शोषण से लड़ना शामिल है। भारतीय दलित स्त्री की मुख्य समस्या है उसका दलित होना। दलित होने के नाते वह उन सभी समस्याओं से जूझती हैं जिनसे पूरा दलित समाज सदियों से जूझ रहा है। "सामाजिक व संस्कृति परिप्रेक्ष्य में विभिन्नता के कारण पाश्चात्य जगत के नारी मुक्ति आन्दोलन से इसमें मूलभूत अन्तर यह रहा है कि यह समाज सुधारकों द्वारा लड़ी गयी लड़ाई भारतीय नारी द्वारा अपने व्यक्तित्व के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक उत्थान के लिए दलित स्त्री गुलामों में गुलाम है"।[14] दलित नारी अब अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए संघर्षरत है। सबसे पहले दलित महिलाओं को अपने परिवार से ही दर्द का अनुभव होता है। दलितों पर होने वाले तमाम शोषण के साथसाथ - दलित महिला होने के कारण शोषण के आयाम और तरीके और भी जटिल हैं। मोहनदास नैमिशराय की राय में "दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर बाराह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है"।[15]

दलित स्त्री के संदर्भ में विमल थोरात के कहते है- "सामाजिक ओर सांस्कृतिक रूप से पिछड़ेपन जितना उन्हें पाठशालाओं में जाने से रोकता है, उतना ही इन बच्चियों का न पढ़ने का कारण है, आर्थिक अभाव में जीने की विवशता है। लेकिन एक और पहलू भी

इसके लिए ज़िम्मेदार है जो अधिक गंभीर है। दलित आदिवासी लड़कियों के प्रति शिक्षकों का भेदभावपूर्ण रवैया होने, बात-बात पर झिड़की देने जातिगत परिवेश से संबंधित संस्कृति को हीन बताकर गालियाँ देने उन्हें पढ़ने से हतोत्साहित करके परंपरागत धंधे पेशों को अपनाने की सलाह देने आदि कारणों से दलित बच्चों में पढ़ाई के प्रति उत्साह घट जाता है और वे बीच में ही पढाई छोड़ देती है"।[16]

अब वह अपना दर्द और तकलीफ स्पष्ट करना चाहती हैं। कल की दलित महिला चुप थी। आज वह महिला डॉअंबेडकर के विचारों को आगे बढ़ा रही है। .

1.2.2 'स्त्री चेतना' शब्द अर्थ एवं परिभाषा

स्त्री को सृष्टि का आधार मानते है। प्राचीनकाल से लेकर स्त्री को एक पूजनीय पात्र माना है। सुनने में स्त्री श्ब्द एक छोटा सा शब्द है। लेकिन इतनी आसानी से ये शब्द नहीं समझ सकते है। स्त्री को पढ़ना एवं उसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। क्योंकि स्त्री वह है एक बच्चे को जन्म देने के लिए कठिन प्रसव पीडा सहन करते है। ये और कोई नहीं कर सकता है। इसके साथ माँ, बेटी, पत्नी के स्वरूप में घर के हर कोने में उसकी निशानी होती है। एक बार पलट कर पीछे देखे तो स्त्री के सहन का विविध पड़ाव हमें देखने को मिलते है। स्त्री स्वयं अपने दुःख को सहन करके दूसरों के लिए जी रही थी। कभी माता-पिता के लिए तो कभी पति और बच्चों के लिए उसने अपनी ज़िदगी परित्याग की। दूसरों की खुशी में वो अपनी खुशी ढूढ़ लेती है। लेकिन आज आधुनिक काल में ये सब रीति-रिवाज़ के विरुद्ध नारी भी अपने पहचान को समाज में स्थापित करने के लिए प्रयत्न कर रही है। प्राचीन काल से लेकर जो रिवाज़ स्त्रियों को पालन करना पड़ता है, उसके लिए आज स्त्रियाँ आवाज़ उठाना शुरु की है। स्त्री चेतना, स्त्री विमर्श, स्त्री वाद, आदि इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। पितृसत्तात्मक समाज या पुरुष प्रधान समाज में दबे हुए स्त्री का प्रतिरोध ही स्त्री चेतना के विकास का कारण है। 'चेतना' यौगिक शब्द है। जिसके खण्ड है 'चित्',

और 'ल्यूट' तथा उसका अर्थ है 'परिवेशगत व स्वयंगत तत्वों का ज्ञान'। इसमें संवेदना, आत्मा, मन, अनुभूति, चित्त, भावना, विचार आदि विभिन्न मानसिक व्यापारों का मूल रूप संकलित है। जिस तरह स्त्री मन की कई प्रतिक्रियाओं का संकलित रूप है स्त्री चेतना। उसी तरह विभिन्न परिस्थितियों की तरह चेतना का स्वरूप भी भिन्न हो जाता है। चेतना का स्वरूप बदलते जैसे स्त्री की अनुभूतियाँ भी विभिन्न परिस्थितियाँ में बदलती रहती है। स्त्री चेतना का अर्थ स्त्री में निहित जागरूक शक्ति है। स्त्री अपने अधिकारों को पहचानकर उसके प्रति जागृतकर अपने कर्तव्यों के प्रति समझदार नहीं होगी तो तब तक ये संसार को संतुलित बनाये रखने के लिए स्त्री एक अवश्य घटक है। स्त्री के बिना ये दुनिया अधूरा है। स्त्री चेतना के रूपों में स्त्री की सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, आर्थिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना, राजनीतिक चेतना, वैवाहिक चेतना आदि प्रमुख है।

महादेवी वर्मा के अनुसार स्त्री-"पुरुष प्रतिशोधमय शोध है, स्त्री क्षमा। पुरुष शुश्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति पुरुष ब्रह्मा है तो स्त्री हृदय की प्रेरणा" ।[17]

स्वामी विवेकानंद जी के अनुसार स्त्री- "स्त्री पूजन से ही समाज की प्रगति होती है। जिस देश अथवा समाज की प्रगति होती है। जिस देश अथवा समाज में स्त्री पूजन नहीं होता वह देश अथवा समाज कभी ऊँचा नहीं उठ सकता। पश्चिमी देशों के अधःपतन का कारण उन्होंने शक्तिरूपिणी स्त्री की अवहेलना माना है" ।[18]

प्रेमचंद जी के अनुसार- "पुरुष विकीस के क्रम में नारी के पीछे पीछे है। जिस दिन वह भी पूर्ण विकास तक पहूँचेगा वह स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण है"।[19]

1.2.3 स्त्रीवाद एवं स्त्री विमर्श

स्त्रीवाद संकल्पना आधुनिक युग की देन है। स्त्रीवाद का अर्थ है महिलाओं को पारंपरिक रूढ़िवादिता की बेड़ियों से मुक्त कराना और उन्हें मनुष्य के रूप में स्थापित

करना। इसलिए सभी क्षेत्र में स्त्री को पुरुष के समान अधिकार और अवसर की अनुरोध करता है। स्त्रीवाद का शुरुआत स्त्री का अपने प्रति किये गये अन्याय के विरुद्ध से ही शुरु हुआ है। स्त्रीवाद पुरुष प्रधानता का विरोध में संघर्ष करने वाली एक विचारधारा है। स्त्रीवाद में परंपरागत स्त्रीत्व का विरोध अपने अस्तित्व, स्वातंत्र्य तथा कौशल द्वारा अपना एक नया व्यक्तित्व का निर्माण करता है। स्त्रीवाद का उद्देश्य महिला को एक इंसान के रूप में स्थापित करना और उसे उसके अधिकार दिलाना है। स्त्रीवाद में स्त्री की व्यथा-वेदना की अभिव्यक्ति परकते वक्त पुरुषवादी अहं का विरोध भी है। भारत में स्त्रीवाद आन्दोलन 1970 ई.के आसपास शुरु हुआ है। स्त्रीवाद की दिशा और दशा विभिन्न समाजों और संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखती है। स्त्री को पुरुष के समान प्रतिष्ठा मिलने के लिए ही स्त्रीवाद का शुरुआत हुआ है।

केंब्रिड्ज डिक्शनरी में फेमिनिस्म का अर्थ- "The belief that women should be allowed the same rights, power and opputunities as men and be treated in the same way on the set of activities intended to achieve this state".[20]

मृणाल पांडे के अनुसार - "नारीवाद पुरुषों का नहीं उनकी मानवीयता घटानेवाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिपाद करता है, जो मर्दानगी के नाम पर गाडा गया है और जिसके पीछे झूठी अहंमन्यता और उत्पीदक प्रवृत्ति के अलावा कुछ नहीं"।[21]

आन्दोलन के द्वारा स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक भूमिका और उसके नेतृत्व में प्रश्नों को दुनिया के सामने लाने का प्रयत्न किया। स्त्रीवाद पर बहुत सारे पुस्तक भी लिखी हुई है। जैसे नारीवाद को प्रबल करने में साहित्य का बहुत बडा हाथ है। मेरी वोल्सटन क्राफ्ट की सन् 1792 में लिखी 'vindication of the rights of women' नारीवाद पर लिखी गई पहला पुस्तक है। वर्जिनिया वुल्फ का 'A room of one's own' (1927), सीमोन द बोउवर का 'The second sex' (1949), बैट्टी फ्रीडन का 'The

feminine mystique' (1963), केट मिलेट का 'Sexual politics' (1969), जर्मेनग्रीर का 'The female Eunuch' (1970) आदी स्त्रीवादी पुस्तकें है। ये सब से प्रभावित होकर ही है स्त्रीवादी लेखन की आरंभ हुई है। स्त्रीवादी लेखन के केंन्द्र स्त्री है। स्त्रीवादी साहित्य की अपनी मान्यताएँ है। सन् 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया। इसके बाद स्त्री जीवन को स्त्रीवादी दृष्टि से देखने पर जोर दिया गया है। स्त्रीवाद सिध्दांत को लिखनेवाले नारावादी लेखन में अनुभूति की ईमानदारी अधिक होती है और भोगे हुए जीवन और अनुभवों का महत्वपूर्ण स्थान भी होता है। स्त्रीवादी लेखन की संबंध स्पष्ट करते हुए डॉ.सी वसंता ने लिखा है -"पुरुष प्रधान संस्कृति से विमुक्त होकर नर से पीडित नारी का आक्रोश, संघर्ष, व्यथा, संवेदना, तनाव, औरत के प्रति होनेवाले अपमान के प्रति आक्रोश, अपने हक के लिए लड़ना आदि विषयों का चित्रण करना, समस्याओं को उठाना और समाधान प्रस्तुत करना स्त्रीवादी लेखन है"।[22] स्त्री विमर्श दलितों में पितृसत्तात्मक तुलना एवं अवधारणाओं को चुनौती देकर अपनी दुनिया का अस्तित्व, उसकी अस्मिता, उसका भविष्य एवं ज़रूरतों पर चर्चा करता है।

भारत के कुछ समाज सुधारकों ने उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री की प्रस्थिति में सुधार लाने की प्रयास किया है। जिसमें राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्र नाथ ठाकूर, सवामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमति एनिविसेन्ट इसके अलावा रामकृष्ण मिषन, थियोसोफिकल सोसाईटी जैसे संस्थाओं ने महिलाओं के स्त्री शिक्षा तथा अन्य समस्याओं के समाधान में योगदान दिया है।

स्त्रीवादी विमर्श एक वैचारिक आंदोलन है। यह आंदोलन महिला अधिकारों की मांग करते हुए महिलाओं की आजादी की मांग करता है तथा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैचारिक और लिंग आधारित मतभेदों को खारिज करता है और समान मानवाधिकारों की भी मांग करता है। सच तो यह है कि महिलाओं की अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता ने बहस को प्रेरित किया। स्त्रीवादी बहस को महिलाओं को आत्मसमर्पण और पुरुष एकाधिकार

के माहौल से बाहर निकालने का श्रेय दिया जाना चाहिए। स्त्रीवादी बहस महिलाओं को वे सभी अधिकार दिलाने का प्रयास है जो सदियों से पुरुषों को मिले हुए हैं। लेकिन महिलाओं को हमेशा से इनसे वंचित रखा गया है। हम सभी जानते हैं कि पुरुष प्रधान संस्कृति में अब समय के साथ महिलाएं अपनी पहचान के प्रति जागरूक हो गई हैं। स्त्री और पुरुष के संबंधों की यह कड़वी सच्चाई है कि स्त्री पुरुष को जन्म देती है लेकिन पुरुष उसका असीमित शोषण करता है और वह ऐसा करने का सामाजिक, नैतिक और धार्मिक रूप से हकदार है। पुरुष द्वारा स्त्री को भोग के रूप में मान्यता-स्त्री के प्रति पुरुष की इस मानसिकता का विकास संभवतः सृष्टि के मूल सिद्धांत में निहित है। जहाँ बनाने वाला स्त्री नहीं पुरुष है। स्त्री विमर्श बौध्दिक विकास के मंच पर खेला जाने वाला नाटक नहीं है। यह सक्रिय आन्दोलन का मामला है। फिर भी बहुसंख्यक महिलाएँ इससे उतनी ही अनभिज्ञ है जितनी कि अपने अस्तित्व से। स्त्री के अस्तित्व की वास्तविक पहचान और मिथक का भंडाफोड इसकी पहली और अंतिम अवश्यक शर्त है। बीच में सब कुछ अपने आप ढह जाएगा। यदि हम चाहते है कि इसका अगला संस्करण समतावादी सोच के धरातल पर दृढता से आधारित हो तो महिलाओं को शिक्षित करने और नए संस्कारों में पहल करने की आवश्यकता है। स्त्री विमर्श का सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा शरीर का है। वर्तमान में वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व, स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र निर्णय लेना चाहती है। उसकी अपनी आत्मनिर्भरता ही उसकी पहचान है। स्त्री-लेखन यह संदेश देता है कि अपने शरीर को स्वतंत्रता और उस पर अपना अधिकार ही उसका लक्ष्य है।

1.2.4 स्त्री विमर्श परिभाषाएँ

स्त्री विमर्श के बारें में अलग अलग विद्वानों ने विभिन्न **परिभाषाएँ** दी है।

मृणाल पाण्डे लिखती है- "नारी विमर्श स्त्रियों को वृहत्तर समाज से अलग-थलग रखकर देखने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ़ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं। यह तो एक समग्र दृष्टिकोण है, जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोषित और प्रवंचित स्त्रियों

की स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके उसके उजास में उन्हें अपने पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की सदयता तथा कर्मठ दायित्वबोध भी जगाता है"।[23]

चित्रा मृदुगल का मत है - "विमर्श व्यक्तित्व नहीं है। यह व्यवस्था के परिवर्तन का मामला है। स्त्री अपनी अभिव्यक्ति को स्वयं आवाज़ दे रही है और मानकर चल रही है कि उसे स्वयं ही अपनी लडाई लड़नी है और उसमें वह सफलता भी हासिल कर रही है"।[24]

रमणिका गुप्ता के अनुरूप - "स्त्री विमर्श पुरुष का विरोधी नहीं है। वह पुरुष की वर्चस्ववादी प्रवृत्ति और स्वामित्व का विरोधी है। वह स्त्री को जैविक, सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर पुरुषों के समान स्थान प्राप्त करके, अपने अस्तित्व की अलग पहचान कायम करने का पक्षधर है"।[25]

महिलाएँ अपने नाम पर संपत्ति नहीं रख सकती थी। और महिलाओं को संपत्ति का अधिकार भी नहीं था। महिलाएँ किसी भी चीज़ पर अपना अधिकार नहीं जता सकती थी। उसे अपने और अपने बच्चों पर अधिकार जताने का भी अधिकार नहीं था। इन सभी अधिकारों को पाने के लिए महिलाओं ने आवाज़ उठाई है।

समाज में पुरुषों की तुलना में महिलाओं को राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक समानता का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है। जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों द्वारा आन्दोलन किए गए है, इसे नारी वाद की संज्ञा दी गई है। जब महिलाओं ने अपनी समस्याओं के बारें में सोचा और लिंग के आधार पर सोचना शुरु किया, तब उन्हें अपनी गुलामी और हो रहे अन्याय के बारें में पता चला और उन्होंने आवाज़ उठाई और आन्दोलन भी शुरु किया है। कहा जाता है कि महिलाओं की चर्चा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, मानसिक और शारीरिक दबाव डालने वाले पारंपरिक रीति-रिवाज़ों और मान्यताओं के विरोध में उभरा है।

1.3 दलित शब्द व्युत्पत्ति एवं अर्थ

"दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'दल' धातु से हुई, जिसका अर्थ है फटना, खंडित होना, टूटना, जो दला गया, दबाया गया इत्यादि" ।[26]

दलित वर्ग से एक वर्णहीन वंश का बोध होता है। इसे चमार, मेहतर वंशी जैसे नाम से पुकारते है। दलित शब्द का अर्थ 'पीडित, शोषित, दबाया हुआ एवं 'जिनका हक छीना गया हो' होता है। दलित का शाब्दिक अर्थ है- कुचला हुआ। सदियों से दमित, पीडित और शोषित व जाति से पिछड़े हुए लोग दलित शब्द के अंतर्गत आते है। सवर्ण समाज में तिरस्कृत वर्ग को दलित कहकर संबोधित किया जाता है। दलित एक शब्द ही नहीं, एक वर्ग है, विचार है, दर्शन है, टूटने का अहसास है।

इसी संबंध में चमनलाल का कहना है - "प्रतीक के रूप में दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीडा, चूभन का प्रतीक है"।[27] समाज में वर्ग से दूर होकर दलित वर्ग अलग ही जीवन जीता आ रहा है। समाज में अस्पृश्य या अछूत मानने वाले दलितों को अपने हर हक से दूर रखा गया है।

वृहत हिन्दी कोश में दलित शब्द का अर्थ - "रौंदा, कुचला हुआ पदाक्रांत वर्ग, हिन्दुओं में वे शूद्र जिन्हें अन्य जातियों के समान अधिकार प्राप्त नहीं है"।[28]

दलित शब्द ईसाई धर्म ग्रंथ बायबल में दुःखी, दुर्बल, पीडित, असहाय, दीन-दरिद्र, पापी आदि शब्दों के आधार पर अभिव्यक्ति दी गई है। हिन्दी शब्द कोश में दलित शब्द का अर्थ - "मसला हुआ, रौंदा हुआ, खंडित, विनिष्ट किया हुआ"।[29] हिन्दी साहित्य कोश में दलित वर्ग का अर्थ इसप्रकार दिया गया है - "यह समाज का निम्नतम वर्ग होता है, जिसको विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ- दास प्रथा में दास, सामंतवादी व्यवस्था में किसान, पूंजीवादी व्ववस्था में मज़दूर समाज का दलित वर्ग कहलाता है"।[30]

आज के संदर्भ में दलित का अर्थ होगा वह जाति या समुदाय जिसका अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के कारण सवर्णों या उच्च जातियों द्वारा दमन हुआ है। इस अर्थ में हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, आदि सभी धर्मों में दलित वर्ग मौजूद है। वर्तमान समय में जिनको दलित समझा जाता है उनमें से अनेक वर्गों को पहले 'अछूत' या 'अस्पृश्य' माना जाता था। इन दलितों को उच्च वर्ग के लोगों ने अनेक प्रकार से शोषण किया था।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित' शब्द का अर्थ बताते हुए कहा - "जिसका दलन और दमन किया गया है, दबाया गया है, उत्पीडित, शोषित, सताया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, गिराया हुआ, पस्त - हिम्मत, हतोल्साहित, वंचित आदि।... अगर स्पष्टतः कहा जाए तो वर्ण व्यवस्था ने जिसे अछूत की श्रेणी में रखा"।[31]

दलित शब्द के लिए अंग्रेज़ी पर्यायवाची शब्द है - "डिप्रेस्ड, जिसका अर्थ है- Pressed down or situated lower than the general surface."[32]

"उन्नीसवीं शताब्दी से ही भारत में दलित शब्द का प्रयोग इस विशिष्ट अर्थ में आरंभ हुआ। परंतु दलितवन भारतीय समाज में अत्यंत प्राचीन है। प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र चांडाल अत्यंज व अस्पृश्य आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें स्पष्ट विदित होता है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में निचली जाति के अस्पृश्य हरिजन को ही सच्चे अर्थ में दलित कहा जा सकता है" ।[33]

डॉ. बाबा साहब अबेडकर कहते है, "एक सवर्ण हमेशा सवर्ण रहता है, एक अछूत हमेशा अछूत रहता है, एक ब्राहम्ण हमेशा ब्राहम्ण रहता है, एक भंगी हमेशा भंगी रहता है, वे ऊँचे रहते है जो ऊँचे पैदा होते है। भाग्य के कठोर नियम पर खड़ी है, यह व्यवस्था अपरिवर्तनीय। इसलिए व्यक्ति की योग्यता निरर्थक है नीतिवान अछूत भी नीचा है, हीन सवर्ण से, धनवान अछूत भी नीचा है, धनहीन सवर्ण से" ।[34]

श्री हर्ष मंदर के अनुसार, "दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ गरीब और उत्पीडित व्यक्ति से है लेकिन यह नई संस्कृति पैदा करने के संदर्भ में ध्वनित होता है दलित व्यक्ति अपने नीचे के जमीन तोड़ते है और वे ऊपर उठने के लिए सचेतन रूप से सक्रिय प्रयास करते है निश्चित अवधि में कभी-कभी विस्तृत क्षेत्र में उत्पीडित वर्ग भी शामिल होता है। जैसे- आदिवासी महिलाएँ, बंधुआ मजदूर और अल्पसंख्यकआदि"।[35]

भारतीय समाज में दलित जीवन अत्यंत प्राचीन है। क्योंकि प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र चंडाल, अस्पृश्य आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि निचली जाति के अस्पृष्य हरिजन को ही चातुर्वण्य व्यवस्था में 'दलित' कहा जा सकता है। संक्षेप में एक दलित शब्द से हिन्दु जाति व्यवस्था की परिधि से भी बाहर धकेले गए उस वर्णहीन वंश का बोध होता है जिसे चमार, मेहतर मुंशी जैसी उपजातियों के रूप में संबोधित किया जा रहा है।

डॉ.श्यौराज सिंह 'बैचन' दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहते है- "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है"।[36]

भारतीय दलित साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय अध्यक्ष **डॉ. सोहनपाल 'सुमनादर'** ने दलित शब्द का अर्थ 'सर्वहारा वर्ग का चीत्कार' के रूप में स्वीकार करते हुए इन रूपों में किया है:-

- "समाज और साहित्य में दलित शब्द महत्वपूर्ण है। दलित शब्द मूक नहीं है। वह अपनी परिभाषा स्वयं उद्भाषित करता है। दलित वह है, जिसका दलन किया गया हो। दलित शब्द प्रेरणा और विद्रोह का पर्यायवाची है।
- दलित शब्द का एक इतिहास है। सामाजिक दर्पण है। सर्वहारा वर्ग का चीत्कार है।
- दलित शब्द, अपनी अस्मिता, स्वाभिमान और अपने गौरवमयी इतिहास पर दृष्टिपात करने को बाध्य करता है कि हम कौन थे, क्या थे और क्या हो गए?"।[37]

कँवल भारती के अनुसार दलित शब्द की अर्थ यह है कि "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है।जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही दलित है और उसके अंतर्गत वही जातियँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है"।[38]

मोहनदास नैमिशराय 'दलित' शब्द को और अधिक विस्तार देते हुए कहते है कि " 'दलित' शब्द मार्क्स प्रणित सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। किन्तु इन दोनों में अंतर भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक 'दलित' व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को 'दलित' कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते अर्थात सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जब कि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है"।[39] दलित शब्द ईसाई धर्म ग्रंथ बायबल में दुःखी, दुर्बल, पीडित, असहाय, दीन-दरिद्र, पापी आदि शब्दों के आधार पर अभिव्यक्ति दी गई है।

1.4 दलित साहित्य सामान्य परिचय

साहित्य वह है जो सबके हित में हो। साहित्य को दलित, महिला, आदिवासी, प्रवासी, पर्यावरण, अल्पसंख्यक, बुजुर्ग, मीडिया आदि कई विषयों के आधार पर बांटकर अध्ययन किया जा रहा है। दलित शब्द पर चर्चा करने पर पता चलता है कि दलित वह है जिसे सदियों से दबाया, नजरअंदाज और तिरस्कृत किया गया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि दलित साहित्य वह है जो इस तिरस्कृत समुदाय की आवाज है। आज हमारे साहित्य की स्थिति यह है कि दलित विरोधी होकर कोई साहित्यकार साहित्य-जगत में अपना सम्मान जनक स्थान नहीं बना सकता। पहले का साहित्य में दलित केंन्द्रित एक मामला भी नहीं

दिखाई देता है। उस ज़माने में न समाज में न साहित्य में दलित को कोई गरिमा नहीं थी। समाज में वे उच्च जाति या सवर्ण लोगों से वंचित थी। इसलिए अपने लिए आवाज़ उठाने की हिम्मत नहीं थी। साहित्य के अंतर्गत देखे तो ऐसा कोई साहित्यकार नहीं थी जो स्वयं दलित है। इसलिए साहित्य से भी वह वंचित रहा। बाद में डॉ. भीमराव अंबेडकर, ज्योतिबा फूले जैसे बहुत सारे समाज सुधारकों ने दलितों के लिए लड़ा। अंग्रेज़ियों के हाथ से भारत कैसे स्वतंत्र होना चाहती है, वैसे ही दलित भी हमारे समाज के कुरीतियों से स्वातंत्र्य चाहते है। मूल रूप से डॉ. अंबेडकर ने दलितों को संघटित करके समाज से उनके हक के लिए कानून से भी लड़ा। दलित वर्ग या समाज में दबा हुए एक समूह इनका मुद्दा तुरंत भारत के हर कोने में फैला और भारत के एक-एक कोने से लोग इनके साथ लिया। धीरे-धीरे यह भी एक आंदोलन में तब्दील हो गया। समाज में दलित एक चर्चा का विषय बन गया था। इसलिए गैर दलित साहित्यकार भी दलितों के लिए लिखना शुरु किया। समाज में बहुत सारे साहित्यकार ऐसे भी है बिना दलित होते भी दलितों की दुःख को समझकर स्वयं दलित समझकर लिखते है। इस प्रकार, जो गैर-दलित लेखक भी दलितों पर थोड़ा बहुत लिखते हैं, वे स्वयं को दलित लेखक या दलित साहित्य के समर्थक के रूप में स्थापित करने की होड़ करते नजर आते हैं।

'दलित' साहित्य में स्वानुभूति का बहुत महत्व है। दलित साहित्य की आधार ही स्वानुभूति है। दलित साहित्य विधाओं में दलित सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ रचनाएं मानी जाती हैं, क्योंकि आत्मकथाएं दलितों के आत्म-अनुभव एवं मार्मिक अनुभवों का खजाना प्रस्तुत करती हैं। दलित और गैर दलित दोनों का दुनिया और अनुभव अलग है। इसलिए साहित्य में दोनों की अभिव्यक्ति का स्वर और दृष्ठिकोण भी अलग है। जो एक दलित अनुभव कर सकते है गैर दलित नहीं कर सकते है। दलित साहित्य परिवर्तनवादी है। युग एवं सामाजिक व्यवसथाओं के आधार पर ये परिवर्तित होते रहते है। इसके परिवर्तित रूप के कारण दलित साहित्य परंपरावाद का विरोधी है। दलित साहित्य मूलतः वर्ण-व्यवस्था,

जातिगत भेदभाव, ऊच-नीच और अस्पृश्यता का प्रतिकार है। वर्षों से पीडित एक जन विभाग का स्वातंत्र्य पाने का उत्साह दलित आन्दोलन में दिखाई देता है। समाज सुधारकों ने संघटनाओं बनाकर देश के हर कोने में जागरूकता करके सबको एकत्रित करते है। दलित साहित्य को माध्यम बनाकर ये सब कार्य करते है। संक्षिप्त रूप में कहे तो दलितों के विकास में दलित साहित्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

1.5 दलित साहित्य की परिभाषाएँ

दलित साहित्य जन साहित्य है। दलित लेखकों द्वारा या दलितों के लिए लिखा गया साहित्य है दलित साहित्य। दलित साहित्य के अंतर दलितों का सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, पारिवारिक वैयक्तिक, आर्थिक, और दलित जीवन का पीडाएँ व्यक्त किया है।

डॉ. वानखेड़े कहते हैं, "दलित लेखकों द्वारा दलित विषय में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है"।[40] डॉ. वानखड़े ने केवल उन्हीं को दलित साहित्यकार की श्रेणी में रखा है जो स्वयं दलित है जबकि दूसरी तरफ श्री माताप्रसाद जी, जो भारतीय दलित साहित्य अकादमी दिल्ली के संरक्षक भी रह चुके है उनका मानना है कि "दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है बल्कि जिन्होंने भी उसकी पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है वह सृजन 'दलित साहित्य' की श्रेणी में आता डै"।[41]

दलित साहित्य के संबंध वरिष्ठ लेखक काशिनाथ लिंह कहते हैं कि "दलितों पर लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है, जरूरी है कि दलितों की पीड़ा पर लिखा जए"।[42]

दलित और दलित साहित्य के संबंध में मराठी कवि नारायण सुर्वे कहते है कि "दलित शब्द की मिली-जुली परिभाषाएँ है इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियाँ ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित है। ईश्वर निष्ठा याशोषण जैसे बंधनों से आदमी को मुक्ति चाहिए। उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक

अस्तित्व की धारणा समता, स्वतमत्रता और विश्वबंधुत्व के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए। यही दलित साहित्य का आग्रह हैं"।[43]

राजा ढाले ने दलित साहित्य के विषय में कहा है कि "हमारा साहित्य आज दलित साहित्य के नाम से पहचाना जाता है। कुछ लोग दलित शब्द से ध्वनित होने वाली अस्पृश्यता को अस्पृश्यता को भूलकर आर्थिक रूप से शोषित दशा को ही अपनी वेदना समझकर व्याख्या कर रहे हैं। अस्पृश्यता नष्ट करने का इससे सरल रास्ता और कौन सा हो सकता है? अस्पृश्यता को हम खुद ही भूल जाएँ। अपना दुःख भूलकर जो दूसरों का दुःख अपनाकर सीने पर बोझ की तरह ढो रहे हैं वे अपनी अस्मिता को भूल गए है जो अपनी अस्मिता को समझ नहीं पाए वही अस्पृश्यता को बदले आर्थिक दशा को महत्वपूर्ण समझ रहे हैं। वे यह भूलते है कि बद्तर आर्थिक दशा का मूल भी अस्पृश्यता के निर्मित कटघरों में ही है"।[44]

दलित साहित्य की उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि दलित साहित्य वह लेखन है जो जाति व्यवस्था के विरुद्ध तथा उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मानव के लिए प्रतिबद्ध है। दलित साहित्य दलित जातियों में जन्मे लेखकों द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों पर लिखा गया साहित्य है, जो दलितों में परंपरागत शोषणकारी मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत करने का प्रयास करता है, जिसमें आक्रोश की भावना होती है, जो भेदभाव के विरुद्ध लड़ता है तथा शोषण से मुक्ति पाकर समतामूलक जीवन जीने का सूत्र देता है, जो जातिवाद के विरुद्ध होता है तथा सभी को समान मानता है। दलित साहित्य मनुष्य को सर्वोपरि मानता है

दलित लिटेरेचर को मास लिटेरेचर(Mass Literature) कहते है। सिर्फ मराठी और हिंदी दलित साहित्य का ही नहीं बल्कि सभी भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य के प्रोत्साहन डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर का दर्शन से है।

1.6 दलित साहित्य स्वरूप एवं प्रवृत्तियाँ

भारतीय दलित साहित्य का मूल डॉ. अंबेडकर के विचारों पर आधारित है। इसके अलावा भारतीय दलित साहित्य की वैचारिक नींव गौतम बुध्द, कबीर, फूले, कार्ल मार्क्स आदि के विचारों से ही तैयार होते दिखाई देते है। वेदना, संघर्ष, विद्रोह और परंपरावादी हिन्दु मानसिकता का निषेध आदि दलित साहित्य के मूल स्वर है। यह दलितों के दुःख, परेशानी, गुलामी, अधःपतन और अहसास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक चित्रण करने वाला साहित्य है। स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, भयमुक्त सुरक्षा आदि हर एक मनुष्य को मिलनी चाहिए, इस प्रवृत्ति साहित्य में अभिव्यक्त है तो इसे दलित साहित्य कहते है। शरणकुमार लिंबाले कहते है कि -"दलित साहित्य का जन्म अस्पृष्यता के कोख से हुआ है।[45]

दलित साहित्य में मनुष्य को महान मानता है और मनुष्य के सुख-दुःख से समरस होता है। यह साहित्य हिन्दु पौराणिकता, वैचारिकता, मानसिकता व उन संस्कारों का विरुध्द है, जिसमें मनुष्य-मनुष्य में भेद करने की बात करते हैं। इस संबंध में कमलेश्वर का मत है कि -"आज के दलित साहित्य का उन्मेष मात्र साहित्यिक घटना ही नहीं, वह इतिहास का संपूर्ण वैज्ञानिक और विराट सामाजिक पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है। दलित साहित्य उन निरपेक्षतावादियों, सौन्दर्यवादियों और निराशावादियों के लिए भी एक उत्तर है, जो यह समझ बैठे है कि साहित्य की कोई सक्रिय भूमिका नहीं रह गई है"।[46]

आज दलित साहित्य विविध विधाओं के रूप में अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया है। दलित साहित्य कविता, आत्मकथा, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि विधाओं के जरिये हमारे समक्ष आते है। दलित साहित्य विधाओं में से 'आत्मकथा' साहित्य रूप उच्च स्थान लेकर आया है। आत्मकथा यादों की संग्रह के रूप में दिखाई जाता है। आत्मकथा समाज में जीवन के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा की शुरुआत ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का 'जूठन' आत्मकथा से होती है। मराठी आत्मकथा से प्रेरणा

लेकर ही अन्य भारतीय भाषाओं में दलित आत्मकथाओं की शुरुआत होती है। भारतीय दलित साहित्य में मराठी साहित्य का अपना एक महत्व है। मराठी दलित साहित्य की प्रेरणा आन्दोलन है। यह अश्वेत साहित्य के बाद का दूसरा आन्दोलनजन्य साहित्यक रचना है।

यह दलितों के असहनीय दर्द, आतंक और उत्पीड़न के साथ-साथ शोषण से मुक्ति के लिए उनकी कड़ी मेहनत की वास्तविकता को दर्शाता है। दलित साहित्य दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य है जो दलितों के जीवन और समस्याओं पर केन्द्रित है। बाद में गैर-दलित साहित्यकार भी दलितों के लिए लिखना शुरु कर दिया।।

दलित साहित्य के स्वरूप का रेखांकित करते हुए कुंवलभारती ने लिखा है - "दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को स्थापित किया है, अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उसी की अभिव्यक्ति करती है.... यह कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का ओर जीवन की जिजीविषा का साहित्य है"।[47]

दलित साहित्य को समर्थ बनाकर पीढ़ियों से शोषित दलित वर्ग को उसकी सही जानकारी प्रदान करके दलितों के मन में विस्फोट पैदा करने के लिए कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियाँ है -

1. अंबेडकर विचारधारा
2. समत्वबोध
3. स्वस्थ सामाजिक संरचना का अनवरत प्रयास
4. दलित अस्मिता का बोध
5. यथास्थितिवाद का विरोध
6. वर्ण व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति

7. सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध एवं प्रतिकार

8. व्यवस्था के प्रति विद्रोह

9. भोगी हुई पीड़ा की अभिव्यक्ति

10 अंधविश्वास और पाखण्डों का विरोध

1.7 भारतीय दलित साहित्य

भारतीय दलित साहित्य एक नयावाद को लेकर भारतीय साहित्य क्षेत्र में प्रवेश किया है। दलित और गैर-दलित साहित्यकारों ने डॉ. अंबेडकर के प्रेरणा शक्ति के सहारे से जातिवाद को नाश करने का संकल्प लिया है। यह कार्य विभिन्न भाषाओं में हर प्रांतीय स्तर पर चल रहा है। मराठी, कन्नड, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, हिन्दी आदी विविध प्रान्त में दलित साहित्य का योगदान रहा है। स्वयं दलित, दलित साहित्य लिखे तो वह दलित साहित्य मगर गैर-दलित लिखे तो दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं रहना चाहिए। ये कुछ आलोचकों और साहित्यकारों की मत है। में इस विचार से बिल्कुल सहमत नहीं हुँ। क्योंकि कुछ ऐसा गैर-दलित साहित्यकार भी है, गैर-दलित होकर भी दलितों के प्रति संवेदनशील साहित्य लिखा है। यहाँ दलित साहित्य को प्रोत्साहन करनेवाले इन साहित्यकारों से अवरोध करने के बदल में उन्हें इज्ज़त करना सीखना है। भारत में क्षेत्रीय या प्रांतीय स्तर में भाषा की विविधता है। इसलिए यहाँ का साहित्य में भी विभिन्नता दिखाई देता है। किस राज्य में कौन सी समस्याओं को लेकर दलित साहित्य लिखा जा रहा है, इसे संक्षिप्त रूप में नीचे दिये गये है।

1.7.1 मराठी दलित साहित्य

मराठी दलित साहित्य का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है। लेकिन इसके पहले संत साहित्य में सामाजिक कुरीतियों का विरोध प्रकट हुआ है। किन्दु संत साहित्य में विद्रोह की भावना नहीं थी। अतः इसे दलित साहित्य की सूची में शामिल

नहीं किया गया है। सामाजिक बूराईयों को समूल उखाड़ फेकना, समाज में मानवीयता के भाव जगाना, सामाजिक अन्याय के विरोध में संघर्ष करने की प्रेरणा मानवों में प्रवाहित करना तथा अंबेडकर जी के विचार शिक्षित बनो, संघटित बनो, संघर्ष करों पर कार्य करना आदि मराठी दलित साहित्य का मूल उद्देश्य है। मराठी दलित साहित्य के प्रमुख चार केंन्द्र माने जाते है, औरंगाबाद, मुंबई, पूणे और नागपूर। यहाँ पर ज्यादातर मराठी दलित साहित्य का कार्य हुआ है।

साहित्य के विविध विधाओं में मराठी दलित साहित्यकारों का अद्भूत भूमिका रही है। महाराष्ट्र में प्रथमतः मराठी साहित्यकारों में से आण्णाभाऊसाठे का नाम लिया जाता है। इन्होंने 1950 में दलित साहित्य लिखना प्रारंभ किया है। ये मज़दूर आन्दोलन के सफल कार्यकर्ता थे, इसलिए इनके साहित्य में दलितों के जीवन का उल्लेख है। आण्णाभाऊसाठे अंबेडकर के आदर्शों पर प्रभावित होकर अंबेडकर के आन्दोलन में भाग लिया है। अंबेडकर आम्दोलन में इन्होंने एक महत्वपूर्ण कार्याकर्ता का पात्र निभाया है। इन्होंने क्रांतिकारी भाव प्रकट करनेवाली कविताएँ लिखती थी।

"जग बदल घालुनी घाव, सांगुनी गले मला भीमराव" ।[48]

इसका अर्थ है कि, घाव डालकर जग को बदलने के लिए बाबासाहेब कवि से कह गये है। इन्होंने ये गाना गाँव के कस्बें में जाकर गाया है। मराठी दलित कविता जाति व्यवस्था, सामाजिक असमानता और अर्थहीन आश्वासनों के खिलाफ खड़ी हुई है। इसमें दो पीढ़ियों के कवि शामिल हैं। पहली पीढ़ी के कवि और लेखक नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, दया पवार, यशवंत मनोहर, नारायण सुर्वे, वामन लिंबालकर, त्रिंबक सपकाले आदि हैं। दूसरी पीढ़ी में अर्जुन डांगले, प्रहलाद चेडवणकर, जे.वी. पवार, प्रकाश जाधव, अरुण कांबले, राजेंद्र सोनवणे, शरणकुमार लिंबाले आदि महत्वपूर्ण नाम हैं। वर्तमान पीढ़ी में यशवंत मनोहर और शरणकुमार लिंबाले जैसे कवि सक्रिय हैं।

विदेशी शासन के दौरान शूद्रों के लिए शैक्षणिक सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं और दलितों को स्कूलों में प्रवेश मिलने लगा। इससे दलितों में जागृति पैदा हुई. महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले, लोकहितवादी आगरकर, राजर्षि शाहू महाराज आदि के लेखन और समाज सुधार कार्यों के कारण निचली जातियों के शोषण की निंदा की जाने लगी। महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले, लोकहितवादी आगरकर, राजर्षि शाहू महाराज आदि के लेखन और समाज सुधार कार्यों के कारण निचली जातियों के शोषण की निंदा होने लगी। महात्मा ज्योतिबा फुले एक निडर व्यक्ति थे और दलितों में ऐसे विचार लाना उनका कर्तव्य बन गया। वे कहते हैं- "शिक्षा से ही तुम्हारा उद्धार और सुधार होगा। वर्ना दुर्गति प्राप्त होगी"।[49] इस तरह महाराष्ट्र में अनेक दलित सुधारों के परिणामस्वरूप निचली जातियों के शोषण की समस्याएँ उजागर होने लगीं। पश्चिमी विचारों से प्रभावित लेखकों को अनेक नए विषयों की जानकारी मिलने लगी। इसके कारण मराठी साहित्य में कुछ परिवर्तन आने लगे।

मराठी दलित साहित्य में सबसे ज्यादा काम आत्मकथा विधा पर हुआ है। 1990 के आसपास दलित लेखकों द्वारा मराठी में लिखा गये आत्मकथाएँ बहुचर्चित रही। मराठी दलित आत्मकथाओं में डॉ. शरणकुमार लिंबाले, रमाबाई रानडे, मुकुन्द पावड़े, दया पवार, वसंत मनु, माधवकोड़, शंकर राव खरात आदि प्रमुख है। मराठी के दलित कविताओं में विद्रोह की स्वर देखने को मिलता है। इसमें दया पवार, नामदेव ढ़साल, वामन निंबालकर, अर्जुन डांगले आदि प्रमुख आते है। इसका अलावा मराठी दलित साहित्यकारों ने कहानी, उपन्यास आदि भी लिखे है।

पहला मराठी साहित्य सम्मेलन 1958 में आयोजित हुआ। बाबु साहेब कांबले ने इस साहित्य का अध्यक्ष थे। दूसरा मराठी दलित साहित्य सम्मेलन 22 नवंबर 1959 को परेल मुंबई में आयोजन हुआ। इसका अध्यक्ष यादवराव गांगुडे थे। तीसरा सम्मेलन पूना में 11 मार्च 1961 को आयोजित हुआ। इसके अध्यक्ष वी. रा. रणपिसे थे। चौथा दलित साहित्य सम्मेलन नागपूर में 30 और 31 में 1961 को आयोजित हुआ। इसके उद्घाटक भदन्त

आनंद कौसलयान थे। यहाँ का दलित युवक अपनी जीवन की व्यथा अपने ही हाथों लिखकर पत्रिकाओं में छपने लगे। साहित्य को माध्यम बनाकर वो अपने अधिकार के लिए लड़ना शुरु हुई। भारतीय दलित साहित्य में मराठी दलित साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान है।

1.7.2 तेलुगु दलित साहित्य

तेलुगु दलित साहित्य की शुरुआत 1990 में हुई.। डॉ. भीमराव अंबेडकर, पेरियर, नारायणगुरु, छत्रपति शाहुमहाराज, फूले आदि दलित समाज सुधारकों के तत्वों को पालन करके तेलुगु कवियों ने अपनी कविताओं की सृजना की है। तेलुगु दलित साहित्य के प्रमुख कवि जाषुवा को तेलुगु दलित साहित्य के जन्मदाता मानते है। जाषुवा जी का रचनाकाल अंबेडकर जी से भी पुराना माना जाता है। इन्होंने बिना असमानता वाली समाज का संपना देखा है। इनके बाद कुसुमा धर्मत्व, जाला रंगाकवि और नक्का चिनवेकाया जैसे कवियों ने असपृश्यता के विरोध में कविताएँ लिखी है। थुम्मापुडी भारती ने अपने लेखन में कहा है कि दलित साहित्य के उद्भव का कारण है- “There is a long past in the creation of Dalit consciousness in Telugu Literature. Perhaps the exploitation of life, reaction, pleading, protest, reform, progress and revolution are the causes in the creation of Telugu Dalit literature”. (Bharati Thummapudi. “*The History of Telugu Dalit literature*”. New Delhi: Kalpaz Publication. 2008. Print.) सभी विधाओं को देखे तो तेलुगु दलित साहित्य का जन्म कविता के माध्यम से ही हुआ है। तेलुगु दलित कविताओं बोल चालिक या संवाद पध्दति या सरल बोली में लिखी जाती थी। ज्यादातर सामान्य जन इन कविताओं को पढ़कर इन्हें दलित आन्दोलन की ओर अग्रसर ले जाती है। कवि कत्ति पद्मराम की कविता जनजीतम्, देशम डैरी आदि तेलुगु में लिखी गयी चर्चित कविताएँ है। 1935 से लेकर 1968 तक के तेलुगु दलित कहानियों में श्रमजीवियों, महार, चमार, दीन-हीन की दशाओं को दर्शाया है। इसके बाद 1969 से 1990

के अवधी में लिखी कहान्यों में शोषितों शोषकों का किस प्रकार जालसाजी किया है और कर रहा है, ऐसी घटनाओं को कहानियों में चित्रित करने का प्रयास दिख रहे है।

तेलुगु के प्रमुख दलित साहित्यकार है- दग्गुपाटि पद्माकर, मद्दूरी नगेशबाबु, चिलकुरिदेवपुत्र, सिंगमनेनी नारायण, आचार्य कोलकलुरिइनक, पी. रामकृष्णरेड्डी और ननुमास स्वामी आदि प्रमुख दलित साहित्यकार है। इनके अलावा नए कहानीकार भी अपना योगदान दे रहा है। तेलुगु दलित साहित्य ध्यान से परखने से यह दृष्टिगत होता है कि कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में तेलुगु दलित साहित्य का योगदान रहा है। इनमें से आत्मकथा विधा संपूर्ण से पिछड़े गई है। आत्मकथा विधा में तेलुगु दलित साहित्य ज्यादा नहीं मिलती है।

1.7.3 कन्नड़ दलित साहित्य

"कन्नड भाषा में दलित साहित्य की शुरुआत दलित नामक पत्रिका से मानी जाती है" ।[50] दलित साहित्यकारों ने इस प्रचार माध्यम का सहारा लेकर दलितों की समस्याओं को पत्रिका में प्रकाशन किया है। संक्रमण, शूद्र, आंदोलन, पंचम आदि कन्नड दलित पत्रिकाएँ दलित आंदोलन के लिए सहायक मानी जाती है। चेत्रण्णा वालीकार, सिध्दलिंगया, देवनूर महादेव, बरगूर रामचंद्रत्पा, गंगाधर मुदलियार, गोविंदय्या इन्दुधरहोत्रापुरा, सरजू काटकर, बाल राजू, रमजान दर्गा, अरविन्द मालगत्ति, तेजस्वी कट्टीमनी आदि दलित वर्ग से आए हुए दलित साहित्यकार है। इनमें चेत्रण्णा वालीकार ने कन्नड दलित साहित्य में खुंखार शेर माने जाते है। ये सब साहित्यकारों ने साहित्य के हर विधा में अपना योगदान दिया है। इनके अलावा गैर-दलित साहित्यकार भी कन्नड दलित साहित्य में अपना योगदान दिया है। डॉ. बुद्दण्णा हिगमिरे, चंद्रशेखर पाटिल, वी.टी राजशेखर शेट्टी आदि कन्नड दलित साहित्य के गैर-दलित साहित्यकार है। दलित साहित्य को लेकर प्रत्येक राज्य में अनेक प्रश्नों का जन्म

हुआ है। जैसे दलित किसे कहा जाता है, दलित साहित्य लिखनेवाले सभी को दलित साहित्यकार कहा जाता है क्या? ये सभी प्रश्न कन्नड़ दलित साहित्य में भी मिल सकते हैं।

1.7.4 हिंदी दलित साहित्य

भारतीय दलित साहित्य में हिंदी दलित चेतना का प्रचार-प्रसार में दलित साहित्यकारों का अधिक योगदान विद्यमान है। उत्तर भारत में दलित साहित्य को मजबूत बनाए रखने में हिंदी दलित लेखकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिंदी में दलित साहित्य के उद्भव और विकास के अनुबंध में डॉ. एन. सिंह कहते हैं - "हिंदी में दलित साहित्य की बाकायदा शुरुआत बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में हुई। इसकी प्रेरणा डॉ. अंबेडकर की विचारधारा तो ली ही महात्मा ज्योतिभा फूले का संघर्ष, मार्क्स की क्रांति दृष्टि तथा मराठी का दलित साहित्य भी रहा"।[51]

भारत में दलित चेतना फैलाने में सबसे बड़ा योगदान हिंदी दलित लेखकों का रहा है। दलित लेखकों के अलावा कुछ गैर-दलित लेखकों ने भी शुरू से ही इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। लेकिन गैर-दलित लेखकों द्वारा किए गए ऐसे प्रयासों को दलित लेखक नकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। दलित और गैर-दलित लेखकों की रचनाओं में मूलभूत अंतर को स्पष्ट करते हुए ओम प्रकाश वाल्मीकि ने कहा है - "दलित जीवन औरउनकी समस्याओं पर गैर दलित, जैसे प्रेमचन्द, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, जगदीश चन्द्र आदि ने लिखा है और दलित लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि, मोहन दास नैमिशराय, श्यौराज सिंह बेचैन आदि ने भी लिखा है । किन्तु उनकी अन्तर्वस्तु में इनके द्वारा अर्जित और प्रतिष्ठित मूल्यों में और उस अनुभव की प्रक्रिया की व्याख्या में गहरा फर्क है । जाहिर है, इन मूल्यों की प्रकृति और प्रक्रिया में वर्णभेद अहम भूमिका अदा करता है । उनके अपने आग्रह और संस्कारिक मूल्य मानन्यताएँ कृति की समग्रता में अपने निष्कर्ष स्थापित करती

हैं, उसे प्रभावित करती हैं । यह सब एक विशिष्ट सतर्कता के रूप में प्रस्तुत होकर अपनी विशिष्टता रेखांकित करता हैं"।[52]

ऐसे ही विचार कंवल भारती में भी नजर आते हैं। वह कहते हैं - "हिंदी दलित साहित्य वह है जो दलित मुक्ति के सवालों पर पूरी तरह अम्बेडकरवादी है । सामाजिक, रीजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में उसके सरोकार वे ही हैं जो अम्बेडकर थे । दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है । अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है । इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य हर दलित साहित्य की कोटि में आता है"।[53]

कुछ लेखकों का मानना है कि हिंदी दलित साहित्य का उद्भव मराठी दलित साहित्य से हुआ है। यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है। उत्तर भारत में दलितों को जागृत करने का पहले कदम अछुतानंद ने किया था। इसके पहले नाथ एवं सिध्द कवियों ने भी दलित चेतना के बारें में लिखा है। सिध्द में बहुत ज्यादा लोग नीच जाती के थी। सिध्द और नाथों ने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया है। इसके संबंध कंवल भारती का कहना है- "हमें सिध्द साहित्य से ही संस्कृति के रूप को देखना होगा। सिध्द साहित्य में ब्राह्मणों के सक्रिय हस्तक्षेप के बावजूद हमें दो चीज़ें नहीं भूलनी चाहिए। पहली यह है कि सिध्द साहित्य में संस्कृति के मूल्य बुध्द की परंपरा से आते है, जिन्होंने मूल निवासियों या शूद्रों को सर्वाधिक प्रभाव किया था। दूसरी यह कि सिध्दों में तीन दर्जन से भी ज्यादा सिध्द शूद्र और निम्न जातियों से आये है। सिध्दों के साहित्य में हम श्रम को संस्कृति के मूल तत्व के रूप में देखते है। अधिकांश सिध्द किसी न किसी श्रम से जुडे है। धर्म की स्वीकृति का मुख्य कारण भी यह सांस्कृतिक समानता ही प्रतीत होती है"।[54] हिंदी

क्षेत्र में दलित साहित्य की रचना बहुत पुरानी है। कुछ लोग बौध्द काल से, कुछ लोग ओर भी पुराना मानते है।

हिंदी दलित कविता का आरंभ मध्यकाल के निर्गुण कवि रैदास और कबीर ने किया है। संत साहित्यकारों ने रूढ़िवाद, परंपरा छुआछूत की जमकर निंदा की है। इसके बाद 1905 में अछुतानंद ने दिल्ली में अछूत आन्दोलन का आरंभ किया। फिर इन्होने 'आदि हिन्दु प्रेस' लगाकर 'अछूत' नामक पत्रिका की संपादन की है। इसके शुरुआत अंबेडकर के पत्रिका 'मुकनायक' से ही हुई है। इससे यह सिध्द होता है कि उत्तर भारत में दलितों कि अस्मिता का खोज का प्रेरणा महाराष्ट्र से हुई है। अछुतानंद के संबंध डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कहना है कि- "स्वामी अछुतानंद ने ही उत्तर भारत में बाबासाहब की प्रखर प्रतिभा और अछूत दलितों के उध्दारकर्ता सर्वोत्तोन्मुखी शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में अभिनव क्रान्तिकारी का अभियान का समर्थन ही नहीं, वरन सहयोग भी किया"।[55] महाराष्ट्र में दलित कवियों ने अपने कविताओं में वर्ण व्यवस्था के खिलाफ लिखकर दलित चेतना को उत्पन्न की है। इससे प्रभावित होकर हिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी दलित कवियों ने हिन्दी दलित कविता लिखना शुरु किया। बहुत जल्द ही हिन्दी में दलित कविता का प्रचार-प्रसार हुआ और दलित साहित्य हिन्दी साहित्य का एक अंग बन गयी। आगे चलकर रमणिका गुप्ता की 'युध्दरत आदमी' और राजेन्द्र यादव के संपादन में प्रकाशित 'हंस', इन दो पत्रिकाओं में दलित रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। आगरा से प्रकाशित 'जयमुगल' पत्रिका एवं पंजाब से एल. आर. बाली ने प्रकाशित 'भीम पत्रिका' दोनों भारत में अपना योगदान दे रहा है। इसके बाद हिन्दी दलित साहित्य में हिन्दी दलित कविता के अलावा कहानी, नाटक, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना जैसी पुस्तकें रची हुई है।

अंगनेलाल लिखित 'आदिवंश कथा', शंकरानंद शास्त्री द्वारा लिखित 'धर्मपरिवर्तन', पेरियर ई. वी रामस्वामी नायकर की अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक 'रामायण ए. टू स्टडी' का

हिन्दी अनुवाद 'सच्ची रामायण', यह तीनों छटवें दशक में उत्तर भारत में प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकें है। उत्तर भारत के दलित कहानीकारों में मनोजसोनकर, मधुकर सिंह, रघुनाथ व्यासा, ओमप्रकाश वाल्मीकि, दयानंद बटोही, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, प्रेम कपाड़िया आदि प्रमुख है। जिन्होंने और भी साहित्य विधाओं पर काम किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी के 'सलाम' कहानी से दलित कहानी का शुरुआत माना जाता है। दयानंद बटोही की 'सुरंग', मोहनदास नैमिशराय की 'आवाज़े', प्रह्लाद चंद दास का 'पुटुस का फूल', और सूरजपाल चौहान की 'हैरी कब आएगा' आदि दलित साहित्य में लोकप्रिय कहानियाँ हैं। देवीदयाल सेन की उपन्यास 'मानव की परख', मोहनदास नैमिशराय के 'मुक्ति पर्व' इनका दूसरा उपन्यास 'वीरांगना झलकारी', जयप्रकाश कर्दम के 'छप्पर' आदि महत्वपूर्ण दलित उपन्यास है। अन्य साहित्यिक विधाओं की सादृश्य में हिंदी दलित उपन्यासों की संख्या सीमित है।

डॉ. भामराव अंबेडकर दलित साहित्य का जन्मदाता और प्रेरणास्त्रोत है। इन्होंने ही दलित साहित्य में आत्मकथा लिखने की परंपरा शुरू किया। उन्होंने पहले मराठी भाषा में 'अमी कसा झालों' नामक अपना आत्मकथा लिखकर दलित लेखकों को उकसाव किया है। इस प्रभाव से हिंदी दलित साहित्य में आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई। हिंदी दलित साहित्य में आत्मकथाएँ कम दिखाई देती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की 'जुठन', 'अपने अपने पिंजरे', सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत', कौसल्या बैसन्ती की 'दोहरा अभिशाप', मोहनदास नैमिशराय का भाग-1, भाग-2, माताप्रसाद जी का 'झोंपडी से राजभवन' और डॉ. डी आर जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंज़िल' आदि हिंदी दलित साहित्य के प्रमुख आत्मकथाएँ है। ए. के लाल, एन. आर. सागर, कर्मशील भारती, माताप्रसाद मिश्र, मोहनदास नैमिशराय, भीमसेन, सुजाता सिंह, संतोषी आदि हिंदी के दलित नाटककार है। हिन्दी दलित साहित्य की चेतना प्राचीन काल से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

1.8 हिन्दी दलित कहानी स्वरूप एवं प्रवृत्तियाँ - विभिन्न परिदृश्य

दलित साहित्य के अंतर दलित कहानी का उत्कृष्ट स्थान है। दलित कहानी लेखन की परंपरा निश्चित रूप से प्रेमचंद से शुरू होती है, लेकिन दलित लेखकों द्वारा यह औपचारिक परंपरा में 1982 महीप सिंह द्वारा संपादित पत्रिका सारिका से शुरू होती है। लेकिन इससे पहले चाँद पत्रिका का अछूता अंक प्रकाशित हुआ था। इस मुद्दे को ज्यादा महत्व नहीं दिया गया। यहीं से इस लेखन की धार कुंद हो गयी। सारिका पत्रिका 'साहित्य और समाज' के अंक ने एक नई हलचल 1982पैदा कर दी। लोगों को सोचने पर मजबूर कर दिया। यहीं से शुरू होता है दलित कहानियों का सिलसिला।

आधुनिक काल में साहित्य में दलित चेतना का विकास हुआ है। दलित साहित्य की उत्पत्ति महाराष्ट्र में हुई है और कहा जाता है कि दलित चेतना के मामले में मराठी साहित्य अग्रणी है। कई लेखकों में दलित चेतना अलगअलग रूपों में उभरी है और उन्होंने - दलितों की समस्या को छुआछूत से जोड़ा है। प्रेमचंद की कहानी कफ़न का मुख्य पात्र एक बाबूराव बाबुल का कहानी संग्रह :दलित है। मराठी साहित्य'जोवाहा मी जात चोराली' ने दलित साहित्य में क्रांति ला दी। इसके बाद अनेक मराठी साहित्यकारों ने रचनाएँ लिखीं। 90 के दशक में दलित कहानी सक्रिय रूप से सामने आई। अब दलित साहित्य पर बड़ी बहस हो रही है। यहां तक कि कई बड़े लेखकों की भी इसलिए आलोचना की जाती है क्योंकि वे दलित विरोधी हैं. कई उच्च जाति के लोगों ने भी दलित साहित्य लिखना शुरू कर दिया है। कुसुम वियोगी ने अपने संपादन में लोकप्रिय कहानियों के कई संकलन तैयार करके दलित कहानियों के विकास में योगदान दिया है।

दलित कहानियों की विषय वस्तु में जाति व्यवस्था और सांप्रदायिकता का अंतर्संबंध, शैक्षणिक संस्थानों में दलितों के साथ भेदभाव, ब्राह्मणवादियों और यथास्थितिवादियों की अस्वीकृति, संस्कृति और इतिहास की परीक्षा, ग्रामीण और शहरी जीवन के बीच अंतर,

पितृसत्तात्मक व्यवस्था, महिलाओं के अधिकार, जातिवाद, ईश्वर- नियति और पुनर्जन्म आदि काल्पनिक बातों का अस्वीकृति आदी शामिल हैं। दलित कहानियाँ घृणा और हिंसा के कृत्यों को नजरअंदाज करती हैं और करुणा एवं बंधुत्व के भाव पर जोर देती हैं।

दलित कहानियों के सबसे प्रसिद्ध कथाकार ओमप्रकाश वाल्मिकी हैं। उनके तीन कहानी संग्रह 'सलाम' (2000), 'घुसपथिये' (2003) और छत्री (2013) हैं। और कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुई हैं। उनके सलाम कहानी संग्रह में कुल 14 कहानियाँ संग्रहित हैं। सभी कहानियाँ दलितों के जीवन संघर्ष और बेचैनी का जीवंत दस्तावेज़ हैं। इंट्रूडर संग्रह में कुल 12 कहानियाँ हैं, जिनमें उच्च शिक्षण संस्थानों में दलित छात्रों के साथ होने वाले भेदभाव को सच्चाई को प्रस्तुत करते है।

हिन्दी दलित कहानी लेखन के दूसरे प्रसिद्ध कथाकार मोहनदास नैमिशराय हैं। उनके लेख और कहानियाँ लगातार पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।-

उनका कहानी संग्रह 'आवाज़े' ((1998में प्रकाशित हुआ था। उनकी कहानियाँ हैं 'अपना गाँव', 'हरे हुए लोग', 'दर्द', 'वसुधा' आदि। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी कहानियों में दलित समाज की विभिन्न समस्याओं पर दृष्टि डाली है।

जय प्रकाश कर्दम दलित साहित्य के प्रमुख लेखक हैं। वह हिंदी दलित कथा लेखन में अपनी कहानियों और उपन्यासों के जरिए चर्चा में रहते हैं। उनका कहानी संग्रह 'तलाश' जिसमें जातीय जागरूकता को केंन्द्र में रखकर लिखी गई है।

सूरजपाल चौहान, दयानंद बटोही, रत्नकुमार सांभरिया, अजय नावरिया आदि प्रसिद्ध दलित कथाकार हैं। दलित कहानीकार अपनी कहानियों के साधन से दलित समाज की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों और जीवंत यथार्थ को सच्चाई और अनुभव के साथ रचते हैं। यह कहानीकार के रचनात्मक अनुभव और जीवंत अनुभव का एक हिस्सा है। वह अपने कथा-

यही बात संसार में कहीं न कहीं अपना जिया हुआ सत्य अवश्य प्रस्तुत करते हैं।उनके कहानीकार बनने के दृष्टिकोण को अलग बनाती है।

1.8.1 दलित कहानियों का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

दलित कहानियों ने समाज द्वारा शोषित लोगों के जीवन के लगभग सभी पक्षों को उजागर किया है। दलित जीवन का जो सच अब तक छिपा हुआ था, दलित कहानीकारों ने उस सच को यथार्थवादी शैली में समाज के सामने प्रस्तुत किया। दलित कहानियों में संपूर्ण परिवर्तन की चाहत झलकती है। ये कहानियाँ अंधकारमय भविष्य की परिकल्पना का विकल्प प्रस्तुत करती हैं। बाबा साहेब अंबेडकर का नारा "शिक्षित बनो संघर्ष करो संगठित हो" दलित कहानियों में सार्थक लगता है। दलित कहानियों में संपूर्ण परिवर्तन की अभिलाषा प्रतिबिम्बित होती है।

दलित साहित्य के सशक्त लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि ने 'दलितों की सामाजिक प्रतिबद्धता' पर एक आलेख लिखा है। ''यदि आज समस्त भारतीय साहित्य का समग्र दृष्टि से मूल्यांकन करे तो उंगलियो पर गिने जाने वाले साहित्यकार ही मिलेंगे, जिनके दलितों के प्रति संवेदनशीलता दिखाई पड़ी है, जो अपने आप में चौकाने वाला तथ्य है। साहित्य को समाज का दपर्ण कहने वाले साहित्यकार सही अर्थों में साहित्य का दर्पण बनाने में असमर्थ रहे है। हिन्दी की स्थिति तो और भी सोचनीय है। कबीर, रैदास निराला और प्रेमचन्द को छोडकर कितने साहित्यकार है। जिन्होंने इस देश के उस समाज पर दृष्टिपात किया है, जो युगोंयुगों से घोर अमानवीय जीवन जी रहा था-"।[56]

हिंदी दलित कहानियाँ भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित जाति व्यवस्था, छुआछूत और वर्ण व्यवस्था के कारण हाशिये पर जीवन जी रहे दलित समुदाय की महत्वाकांक्षा और जीवन संघर्ष को दर्शाती हैं। दलित साहित्य ऐसे लोगों की सामाजिक-ऐतिहासिक पड़ताल है। अतः इसकी सामाजिकता एवं सामाजिक प्रतिबद्धता पारंपरिकसाहित्य

से सर्वधा भिन्न प्रतीत होती है। सतही तौर पर दलित साहित्य का सरोकार केवल दलित समाज से ही प्रतीत होता है। लेकिन इसके प्रगाढ़ में मानव मुक्ति का संघर्ष निहित है। इसलिए, यह समग्र रूप से मानवता से भी संबंधित है। हिंदी दलित कहानियों के पात्र अपनी जिंदगी अपने तरीके से नहीं जी पाते बल्कि पारंपरिक समाज द्वारा बनाई गई व्यवस्था में जीवित रहने और कड़ी मेहनत करने को मजबूर हैं। हिंदी दलित कहानियों में दलितों की सामाजिक स्थिति बहुत स्पष्ट और असामान्य है। दलित कहानी के पात्र गरीब, असहाय, समाज से बहिष्कृत और तिरस्कृत हैं और दर्द और यातना से भरा जीवन जी रहे हैं। दलित समुदाय भी शिक्षा से वंचित है।

रमणिका गुप्ता कहती है‘‘ :ये कहानियाँ सामाजिक बदलाव को आने का आहवान करती कहानियाँ है। इन कहानियों में आक्रोश है, आग है, लावा है, गुस्सा है तो साथसाथ संवेदना-, मानवीयता और सब्र भी है, न्याय की उत्कट लालसा है, समानता की तीव्र ललक है, भाइचारे की भावना है, तो आदर पाने की इच्छा भी है”।[57]

दलित समाज का सम्पूर्ण सच 'जाति व्यवस्था' और जातिवाद पर केन्द्रित असंगत सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ 'सलाम' और 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' दलित समाज की यथार्थता को दर्शाती हैं।

यदि हम कावेरी जी की कहानी 'सुमंगली' पर नजर डालें तो एक दलित स्त्री के सामाजिक जीवन और समाज में उसके स्थान को समझ सकेंगे। सूरजपाल चौहान की कहानी 'घाटे का सौदा' आत्मनिरीक्षण की कहानी है। जिसमें पढ़े-लिखे दलित सामाजिक भेदभाव के डर से अपनी जाति छुपाने को मजबूर हैं। दलित कहानों को दलितों का इतिहास, सामाजिक स्थिति और मानवीय पक्षों को समझे बिना दलित कहानी के भाषाशैली एवं उद्देश्यों को लिखना अनुपयुक्त है। दलित कहानियाँ समाज, जाति व्यवस्था, छुआछूत, अस्पृश्यता आदि सामाजिक व्यवस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन लाने का प्रयास करती हैं। दलित कहानियों का सत्य समाज का नग्न सत्य है। जिसे कभी अस्वीकार नहीं की जा

सकता। इसमें सामाजिकता अधिक दिखाई देते है। क्योंकि यह आम-आदमी के सच्चे यथार्थ कहानियाँ है।

1.8.2 दलित कहानियों का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

राजनीति अंग्रेजी शब्द 'पॉलिटिक्स' का पर्याय है। राजनीति शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'पोलिस' से हुई है जिसका अर्थ है 'नगर राज्य'। राजनीति एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से शांति एवं व्यवस्था स्थापित की जाती है। यह विभिन्न व्यक्तियों, वर्गों और समुदायों के बीच समन्वय का एक साधन है। समाज में लोग दूसरों पर शासन करते हैं, राजनीति में वे सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं और वे सत्ता के भूखे होते हैं।

स्पष्टतः राजनीति एक ऐसा साधन है जिससे शांति एवं व्यवस्था स्थापित की जाती है। दलित कहानीकारों ने अपनी कहानियों में दलितों के जीवन के राजनीतिक पहलू को स्पष्ट रूप से लिखा है। "'मुंबई काण्ड' श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि की राजनीतिक चेतना की कहानी है। जूलाई **1999** को मुंबई की 'घाटकोपर' दलित बस्ती में स्थित बाबा साहेब डॉ. बी. आर अंबेडकर की प्रतिभा का अपमान किया गया। इस अपमान के विरोध में प्रदर्शन करते हुए अनेक दलित व्यक्ति शहीद हुए थे। घाटकोपर की इस घटना का पूरे देश, खासकर महाराष्ट्र की राजनीति पर गहरा असर पड़ा। यहाँ कहानीकार ने दलित नरसंहार से प्रभावित संवेदनशील लोगों के मन में उठे प्रश्नों का चित्रण किया है। साथ तत्कालीन शिवसेना सरकार की कानून व्यवस्था की स्थिति और दलितों के प्रति उसके संदिग्ध इरादों को भी उजागर किया है। लेखक ने जयराम रवि जैसे दलित नेताओं को कटघरे में खड़ा किया है। दलित लोग नेता बनने की चाहत रखते हैं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों से वंचित किया जा रहा है। जयराम रवि को प्रतीक के रूप में चित्रित कर यह व्यंग्य सभी दलित नेताओं पर लागू होता है, चाहे दलित नेता चुप रहे या अपनी कुर्सी बचाने के लिए 'मुंबई घटना' पर खुलकर नहीं बोले"।[58] इस कहानी में दलित नेताओं को निशाने पर लिया गया है।

अनीता भारती जी की कहानी 'नयी धार' दलित राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित प्रतीत होती हैं। 'नयी धार' कहानी की नायिका रमा अक्सर सामाजिक कार्यों के प्रति जागरूक रहती है। वह दलित आंदोलन में काम कर रही हैं और वह चाहती हैं कि गैर-दलित भी दलित उत्थान के लिए इसमें शामिल हों। यह कहानी दलित आंदोलन में दलित महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए भी तत्पर दिखती है।

कैलाश वानखेड़े जी की 'महू' कहानी में कॉलेज के छात्रावासों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों की मौत को कॉलेज प्रशासन द्वारा आत्महत्या में बदल दिया जाता है। इसका वर्णन कहानी में इस प्रकार किया गया है- "कितने ताज्जुब की बात है। हायर एजुकेशन वाला एक भी लड़का या लड़की मरने के पहले चिट्ठी नहीं लिखता। दोस्तों को नहीं बताता। प्रोफ़ेसरों को ख़बर नहीं होती और मर जाता है"।[59] सवर्ण लोग ही दलित बच्चों को प्रताडित करते है और बाद में उनकी हत्या आत्महत्या में बदल जाती है। यहाँ पर उच्च अधिकारियों की राजनीति साफ दिखायी दे रहा है। परंतु दलित बच्चे अब शिक्षा के हर क्षेत्र में अपना पैर जमाने की कोशिश कर रहे हैं, मेडिकल, इंजीनियरिंग आदी क्षेत्र इसमें शामिल है। अंत में कह सकते है कि राजनीति और साहित्य का बहुत गहरा संबंध रहा है, राजनीति सदैव सत्ता से संबंधित रही है या सत्ता का पर्याय रही है, इसलिए राजनीति का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है।

1.8.3 दलित कहानियों का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

मानव सभ्यता के विकास में संस्कृति का प्रमुख योगदान है। यह भी सत्य है कि प्रभुत्वशाली समाज की संस्कृति कमजोर समाज की संस्कृति पर हावी हो जाती है। उदाहरण के लिए, हम अमेरिकी संस्कृति को देख सकते हैं। हमारा समाज अब किसी न किसी रूप में उनका अनुकरण करता दिख रहा है। हमारी जीवनशैली से लेकर खान-पान, पहनावे या बातचीत तक, हम हर चीज़ में अमेरिका की संस्कृति लेकर चलते हैं। शायद इसका सबसे

बड़ा कारण यह है कि हमारा देश औपनिवेशिक गुलाम था और हर गुलाम छुप-छुपकर अपने मालिकों की संस्कृति को अपने व्यवहार का हिस्सा बना लेता है और उन्हें इसकी भनक तक नहीं लगती। संस्कृति सभी भौतिक और अभौतिक तथ्यों की समग्रता है, जो व्यक्ति को समाज में एक सामाजिक प्राणी बनाती है। संस्कृति कोई दैवीय शक्ति नहीं बल्कि मनुष्य की रचना है और इसका निरंतर अस्तित्व मनुष्य द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक हस्तांतरण पर निर्भर करता है। भारत देश की महान भूमि पर अनेक संस्कृतियों का जन्म हुआ है। जैसे हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन, बौध्द। इसमें हिन्दु संस्कृति में केवल सवर्ण लोगों के लिए ही जगह थी। दलितों के लिए कोई स्थान नहीं थी। पहले दलित लोग शिक्षित एवं संगठित नहीं थे। उनके पास शिक्षा, धन और शक्ति नहीं थी। इसलिए दलितों द्वारा उठाए गए आंदोलनों को ऊंची जातियां किसी न किसी तरह से दबा देती थीं। साथ ही उनके साहित्य एवं संस्कृति को भी लगभग नष्ट करने का हल्का श्रम किया गया है। दलित साहित्य प्राचीन संस्कृति, कला और साहित्य का तिरस्कार करता है। दलित लेखक मानवता की सच को सामने लाने का प्रयास करते हैं। दलित पारंपरिक संस्कृति को स्वीकार नहीं करते। दलित साहित्य एक अलग समाज और संस्कृति पर चर्चा करता है।

मानव सभ्यता के विकास में दलितों का कोई योगदान नहीं माना जाता था। भारतीय संस्कृति को कुछ दबंग लोगों ने ही जन्म दिया। सभ्य समाज ने दलितों को भारतीय संस्कृति को अपना मानने की इजाजत नहीं दी। यहां तक कि भारतीय त्योहारों पर भी दलितों को अपने घरों के गंदे काम करने पड़ते थे और उनके शोषण का शिकार होना पड़ता था। इसलिए उन्हें हमेशा इस संस्कृति से बाहर रखा गया। दलित समुदाय ने धीरे-धीरे अपनी आजीविका के जरिए अपनी संस्कृति को आगे बढ़ाया। अंबेडकर जयंती को एक त्योहार के रूप में मनाया जाने लगा। इस तरह दलितों ने अपनी संस्कृति का विकास किया। लेकिन जब भी उन्हें मौका मिला, उन्होंने अपने मालिकों की संस्कृति को भी अपने

जीवन का हिस्सा बना लिया। दलित समाज में जहां महिलाओं को स्वतंत्र माना जाता है, वहीं दलित भी अपने मालिकों की तरह उनकी आजादी को सीमित रखना चाहते थे। जैसे-जैसे दलित समाज के कुछ लोग समृद्ध होते गए, वे भारतीय संस्कृति से जुड़ने लगे।

"संस्कृति अमीरों बेफिक्रों और पेट भरों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राण रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है उस संस्कृति में क्या था, जिसकी वे रक्षा करते जनता मूर्छित थी और उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों-ज्यों उसकी चेतना जागृत होती गयी, वह देखने लगी की यह संस्कृति लुटेरो की थी, जो राजा बनकर जगत-सेठ बनकर जनता को लूटती है" ।[60]

'यह अंत नहीं' ग्रामीण दलित स्त्री चेतना की प्रामाणिक कहानी जो साहित्यिक ढंग से बुरी नजर पर जोरदार प्रहार करती है और दुश्मन की बेशर्मी को कायरता में बदल देती है। लेखक को पंचायती राज व्यवस्था की निरर्थकता और उसके दुरुपयोग का गहन एहसास है। गांव का बिसन दलित है, लेकिन वह बड़ों और अन्य लोगों का मोहरा बन गया है। ऐसे में दलित महिला बिरमा को न्याय की शर्त बेकार लगती है। लेकिन बीरमा की स्पष्टवादिता ने सभी में आशा जगा दी थी। कहानी के अंत में सभी ने मिलकर बिरमा से कहा था -"ना बिरमालोगों में ,यह अंत नहीं है तुमने हमें ताकत दी है। हार को जीत में बदलेंगे ... ताकि फ ,विश्वास जगाकरि कोई बिसन मोहरा ना बने" ।[61] इस कहानी में ओमप्रकाश वाल्मिकी ने ब्राह्मणवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध अपना विद्रोह जताया है। इस कहानी में एक ग्रामीण दलित महिला के माध्यम से दलितों के सामाजिक सांस्कृतिक-स्वरूप को दर्शाती है। प्रत्येक व्यक्ति समाजीकरण के माध्यम से अपनी संस्कृति के बारे में विद्या प्रप्त करता दलित लेखकों के अनुसार संस्कृति सदियों तक चलने वाली चीजों की श्रृंखला नहीं है, जिसे कोई व्यक्ति स्वीकार कर सके, लेकिन वह जानता है कि संस्कृति विरासत में नहीं मिलती या स्वाभाविक रूप से अर्जित नहीं होती।

शिक्षित दलित समाज की संस्कृति जाति, वर्ण व्यवस्था और छुआछूत पर आधारित अधिकांश हिंदू समाज की संस्कृति के समान नहीं हो सकती। इसलिए आज का दलित कथाकार एक नयी प्रतिसंस्कृति रचने के लिए प्रतिबद्ध है।

1.8.4 दलित कहानियों का आर्थिक परिप्रेक्ष्य

आर्थिक स्थिति मनुष्य के लिए विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त करने का साधन मानी जाती है। मनुष्य का जीवन आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर करता है। अर्थशास्त्र मनुष्य के भौतिक कल्याण को बढ़ाने के लिए अर्थव्यवस्था में विभिन्न आदर्श और सुझाव प्रस्तुत करता है। 'अर्थशास्त्र' को अंग्रेजी में इकोनॉमिक्स कहा जाता है। अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में अर्थशास्त्री मार्शल का कहना है कि- "अर्थशास्त्र व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रिया-कलाप के उस भाग का परीक्षण करता है जिसका संबंध सुख-समृध्दि के भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उसके प्रयोग के साथ अत्यन्त घनिष्ठ होता है"।[62]

सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा प्रायः व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है। समाज में छोटे-बड़े, ऊंच-नीच के निर्णय आर्थिक पैमाने पर सुनिश्चित किये जाते हैं। यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि दलितों की गुलामी और उससे उत्पन्न आर्थिक स्थिति का कारण गरीबी संरचना मात्र नहीं बल्कि दलितों की अस्मिता से जुड़ा प्रश्न भी है। दलित होने के कारण वह समाज और नौकरी विभाग से भी पीछे हट गयी। दलितों को समाज में अपनी अस्मिता बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की 'सलाम' कहानी दलितों की आर्थिक स्थिति को उजागर करते हुए उनके जीवन संघर्ष को प्रस्तुत करती है। कहानी में कई आर्थिक सन्दर्भ हैं, जो दलित जीवन की कठिनाइयों को उजागर करते हैं। कहानी में हरीश को अपने छोटेपन का एहसास तब होता है जब वह कमल के घर जाता है। कमल की माँ उसके पिता के काम के बारे में पूछती है और जब उसे पता चलता है कि उसके पिता नगर पालिका में सफाई कर्मचारी हैं, तो वह उसे गाली देती है, उन्हें घर से बाहर निकाल देती है। यदि हरीश के

पिता किसी प्रथम श्रेणी वरिष्ठ पद पर होते तो शायद उन्हें इतना अपमान न झेलना पड़ता। जाहिर है, इस भेदभाव का कारण जितनी आर्थिक असमानता है, उतनी ही जातीय मानसिकता भी है।

स्पष्ट है कि समाज में जो मानवीयता की दृष्टि से देखता है, उसे ही नीचा समझा जाता है। दलितों का जीवन सदियों से कष्टमय रहा है। लेकिन आज की दलित महिलाएं ऐसे अपमानजनक व्यापारों से मुक्ति चाहती हैं। और यह आने वाली पीढ़ियों और बच्चों को ऐसे काम करने से रोकता है और जो इसके रास्ते में आता है उसे अपने कब्जे में ले लेता है। दलित अपनी आजीविका के लिए अधिकतर शारीरिक श्रम करते हैं। वे सफाई से लेकर हर वो काम करते हैं जो दूसरे लोग करने से बचते हैं। दिनरात मेहनत करने के बावजूद - दलितों की आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। आज़ादी के बाद भी कुछ चुनिंदा लोगों को छोड़कर दलितों की स्थिति जस की तस बनी हुई है।

1.8.5 दलित कहानियों का धार्मिक परिप्रेक्ष्य

भारत का संविधान को लागू हुआ 1950 जनवरी 26और अनुच्छेद में स्पष्ट 17 रूप से कहा गया है कि, छुआछूत को समाप्त कर दिया गया है और किसी भी रूप में इसका अभ्यास निषिद्ध है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी भी विकलांगता को लागू करना कानून के अनुसार दंडनीय अपराध होगा। फिर भी, संविधान निर्माता यहीं नहीं रुके। उन्होंने इसे संविधान के भाग III में भी शामिल किया जिसमें संविधान के तहत संरक्षित सभी नागरिकों के मौलिक अधिकारों को रेखांकित किया गया था। यह एक महत्वपूर्ण निर्णय था ताकि दलितों को अपनी धार्मिक स्वतंत्रता का अभ्यास करने का समान अवसर मिले। आज के वैज्ञानिक युग में जन्ममृत्यु-, विवाहों में फिजूलखर्ची जैसी सामाजिक रूढ़ियाँ तथा धर्म, ईश्वर आदि के नाम पर प्रचलित सभी अंधविश्वासों, रूढ़ियों आदि को तोड़ने का न तो कोई अर्थ है और न ही इसकी आवश्यकता है। दलित साहित्यकारों ने दलित कहानियों के द्वारा धार्मिक पहलू को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'कर्ज' में एक ऐसे दलित पात्र का चित्रण किया गया है जो मृत्यु भोज और तथाकथित धार्मिक कर्मकांडों के खिलाफ विद्रोही है तथा मृत्यु के बाद भोज की परंपरा को तोड़ता है। जब कहानी का नायक अशोक अपने मृत पिता के अंतिम संस्कार की दावत में शामिल न होने का फैसला करता है, तो गाँव का साहूकार अपने नौकर के माध्यम से उसे बुलावा भेजता है और अपना स्नेह दिखाते हुए कर्ज माँगता है। इस पर अशोक बहस करता है लेकिन गांव के सेठ जी अशोक की इस विचारधारा पर विश्वास नहीं कर्ज़ कहानी में अशोक की माँ और बहन का बलात्कार करके उन्हें मार दिया जाता है क्योंकि वह कर्ज लेता है और तेरहवीं का पैसा नहीं चुका पाता। यह कहानी धर्म के नाम पर हो रहे संक्रमण को दर्शाती है।

सूरजपाल चौहान की 'पांचवी कन्या' की पात्र श्रीमती मिश्रा पूजा के लिए पांचवीं कन्या की खोज करते हुए पांचवीं कन्या को पाकर खुश होती हैं। लेकिन जैसे ही उन्हें पता चलता है कि वह एक मेहतर की बेटी है, यह सुनकर श्रीमती मिश्रा अर्धचेतन हो जाती हैं। यह कहानी तथाकथित धार्मिक गतिविधियों में जाति की समस्या को प्रमुखता से उजागर करती है और धार्मिक गतिविधियों में छुआछूत की भावना को भी स्पष्ट रूप से दर्शाती है। यह कहानी छुआछूत की समस्या को दर्शाती है। धार्मिक अनुष्ठानों में वाल्मिकी समाज की लड़कियों को शामिल न करना यह साबित करता है कि यह छूत छात या संक्रामक है।

दलित जीवन गैर-दलित जीवन से प्राकृतिक रूप में समान होते हुए भी सामाजिक स्थितियों में भिन्न होता है। दलित अलग तरह के मूल्यों के साथ जीता है। लेकिन आजादी के बाद भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मौलिक अधिकारों, शिक्षा और सुरक्षा के अवसरों की समानता का प्रयोग कर दलितों में सम्मानपूर्वक जीवन जीने की अभूतपूर्व भावना जागृत की। उनमें सदियों पुरानी जाति आधारित सामंती शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के खिलाफ अपनी न्यायिक आवाज उठाने का अदम्य साहस विकसित हुआ है।

निष्कर्ष

हिन्दी में दलित साहित्य का इतिहास बहुत लम्बा नहीं है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दलित साहित्य हिंदी में प्रकट हुआ और धीरेधीरे बीसवीं सदी के अंत तक हिंदी साहित्य - पर हावी हो गया। भारतीय समाज में सदियों से ऊंची जातियों ने दलितों का शोषण किया है। ये परंपरा आज के दौर में भी जारी हैकहानीकारो दलित .ं ने अपनी कहानियों के पात्रों के माध्यम से अस्पृश्यता की भावना का विरोध करने का भरपूर प्रयास किया है, उनकी कहानियों में अस्पृश्यता के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं की स्थिति इतनी दुखद है कि उन्हें जीवन भर कष्ट सहना पड़ता है। जिसमें दलित महिलाओं को दोहरी पीड़ा और अन्याय सहना पड़ता है ताकि पहला, महिला होना और दूसरा, दलित जाति में पैदा होना। गाँवों और शहरों में आज भी दलित महिलाओं का शोषण खुलेआम देखा जाता है। हरिजन, गिरिजन जाति में जन्म लेने के कारण ये अधिकतर ऊंची जाति के पुरुषों के हमले का शिकार बनते हैं ,और दुष्टों, अत्याचारियों, बलात्कारियों और उच्च जाति के पुरुषों की वासना का शिकार भी बनते हैं। काम करने के बाद भी उसे अन्याय सहना पड़ता है। चाहे वह खेतों में मजदूरी करे या घर का कोई अन्य काम, गांव के ऊंची जाति के लोगों की नजर दलित लड़कियों पर रहती है। वे दलित महिलाओं को केवल भोग की वस्तु समझते हैं।

संदर्भग्रंथ सूची

1. नारी चेतन की सार्थक तलाश, डॉ. संगीता.के, पृ.15
2. अल्पना मिश्र की कहानियों में नारी चेतना, Mphil thesis, पृ.3
3. नारी प्रश्न, सरला महेश्वरी,पृ.19
4. एस.सुकुमारन.नायर, हिन्दी-हिन्दी - अंग्रेज़ी - मलयालम शब्दकोश, पृ. 282
5. त्रिपाठी, रामप्रसाद, हिंदी विश्वकोश, भाग-4, नागरी प्रचारणी सभा, काशी
6. पथिक, देवराज, नयी कविता में राष्ट्रीय चेतना, कादम्बरी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ.50
7. छायावादी काव्य में कर्म चेतना, डॉ. कन्हैयालाल, पृ.19
8. डॉ.नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना,पृ.39
9. एनसाईक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका, भाग-1, पृ.369
10. सं.आई.प्रोलॉव, डिक्शनरी ऑफ फिलासफी, फृ.82
11. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : दार्शनिक चेतना, डॉ.श्रीराम शर्मा, पृ.13
12. हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना, डॉ.रत्नाकर पाण्डेय, पृ.158
13. साहित्य तथा कला : मार्क्स एंगेल्स (मास्को : प्रगति प्रकाशन, हिन्दी अनुवाद), पृ.51
14. नारी मुक्ति और नारी मुक्ति आन्दोलन, कृष्णा सोबती, पृष्ठ-29
15. आधुनिकता के आइने में दलित, अभय कुमार दूबे(स),पृष्ठ-230
16. दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, विमल थोरात, पृष्ठ-100
17. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ- 24
18. हिन्दी काव्य में नारी, डॉ. वल्लभ दास तिवारी, पृष्ठ- 37-38
19. हिन्दी काव्य में नारी, डॉ. वल्लभ दास तिवारी, पृष्ठ- 37
20. www.dictionary.cambridge.org

21. मृणाल पांडे, परिधि पर स्त्री, पृष्ठ-9

22. डॉ. रघुनाथ गणपति देशाई, हिंदी-मराठी महिला नाट्य लेखन में नारीवाद, पृ. 18

23. पाण्डे, मृणाल, 'परिधी पर स्त्री', नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, चौथा संस्करण-2017, पृ.सं.47

24. यादव, राजेन्द्र (संपादक), हंस, कमल कुमार का लेख-बीच बहस में, नई दिल्ली, अक्षर प्रकाशन, दिसंबर 2012, पृ.सं.46

25. गुप्ता, रमणिका, 'स्त्री-मुक्तिःसंघर्ष और इतिहास', नई दिल्ली, सामाजिक प्रकाशन, 2017, पृ.सं.70

26. रामअवतार यादव, दलित साहित्य का सौदर्य बोध, पृ. सं. 26

27. चमनलाल, भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री, पृ. सं. 19

28. वृहत हिन्दी कोश, पृ. सं. 510

29. संपादक - रामचंद्र, संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. सं. 468

30. हिन्दी साहित्य कोश, भाग एक,पृ.सं. 284

31. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौदर्यशास्त्र, पृ. सं. 13-14

32. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृ. सं. 284

33. डॉ. आर. प्रेमानंदन, तेलगु साहित्य में दलित चेतना, स्त्रावंति, अक्तुबर,2005

34. सुरेश मारुतराव मुले, हिंदी दलित साहित्य एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. सं. 17

35. रजत रानी 'मीनु', हिंदी दलित कथा-साहित्यःअवधारणाएं एवं विधाएं, पृ. सं. 16

36. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', युद्धरत आम आदमी, 1998, पृ. सं. 14

37. हिन्दी साहित्य में दलित अस्मिता, पृ. सं. 26

38. कँवल भारती, युद्धरत आम आदमी, 1998, पृ. सं. 42

39. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौदर्यशाश्त्र, पृ. सं. 14

40. रजत रानी 'मीनू', हिंदी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, पृ. सं. 30

41. रजत रानी 'मीनू', हिंदी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, पृ. सं. 30
42. रजत रानी 'मीनू', हिंदी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, पृ. सं. 18
43. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकूर, पृ.सं. 57
44. डॉ. सुरेश मारुतिराव मुले, हिंदी और मराठी दलित साहित्य : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ.सं. 23
45. शरणकुमार लिंबाले, हंस (जनवरी 1999), पृ.सं 53
46. कमलेश्वर, सारिका, अप्रैल 1975, संपादकीय
47. शरणकुमार लिंबालेः हंस, जनवरी-फरवरी 1999, पृ.सं 53
48. वामन निंबालकरःदलित साहित्य एक वाङ्मयिन चलबल, पृ. सं. 10
49. हिन्दी और मराठी दलित साहित्य एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सुरेश मारुतिराव मूले, पृ.93
50. डॉ. तेजस्वी कट्टीमनीःभारतीय दलित साहित्य एक परिचय, पृ. सं. 18
51. डॉ. एन सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान
52. ओंमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
53. कँवल भारती, दलित साहित्य अवधारणा शीर्षक लेख
54. डॉ. जयप्रकाश कर्दमःसंपादित दलित साहित्य, 2001, पृ. सं. 15
55. डॉ. जयप्रकाश कर्दमःसंपादित दलित साहित्य, 2001, पृ. सं. 59
56. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृष्ठ-75
57. रमणिका गुप्ता: दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृष्ठ-117
58. ओमप्रकाश वाल्मीकि, भारत अश्वघोष, जनवरी 1998
59. कैलाश वानखेड़े, महू, पृष्ठ.118, रजत रानी मीनू, दलित स्त्री केंन्द्रित कहानियाँ, प्रथम संस्करण-2023, वाणी प्रकाशन
60. प्रेमचंदःदलित साहित्य का समाज शास्त्र,पृष्ठ 87 -
61. यह अंत नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ. 29, घुसपैठिए, राधाकृष्ण प्रकाशन
62. Principals of Economics-p.1